॥ ओ३म् ॥

उपनिषदों का रहस्य

ईशोपनिषद्

श्री नारायण स्वामी

उपनिषदों का रहस्य

ईशोपनिषद्

लेखक

पूज्यपाद श्री महात्मा नारायणस्वामी जी

देहली

चतुर्थ संस्करण २०००) सम्वत १९९५ वि० { मूल्य ≈)

प्रकाशक—
हरिश्चन्द्र
मन्त्री, वैदिक-साहित्य-प्रचारिणी सभा,
चावड़ी बाज़ार, देहली।

मुद्रक—
ला० सेवाराम चावला,
चन्द्र प्रिण्टिङ्ग प्रेस,
नया बाज़ार, देहली।

एक शब्द

श्री पूज्य नारायण स्वामीजी महाराज ने कृपाकर इस पुस्तक का चौथा संस्करण निकालने की आज्ञा हमारी सभा को प्रदान की है। सभा उसकी अतीव कृतज्ञ है। श्री० स्वामी जी अध्यात्म ज्ञान के विशेषज्ञ हैं। उपनिषद् ज्ञान पर आपका विलक्षण अधिकार है और गहरी पैठ है। उनका यह प्रवचन आत्म-कल्याणेच्छुकों के लिए स्वाँति की बूँद है। इसीलिए यह अधिक लोकप्रिय हो उठा है। ईश-उपनिषद् उपनिषदों में मुकुटमणि है। इसकी पूँजी साथ रखकर ले चले. तो प्राणी लोक-परलोक की यात्रा आदर्श रूप में निवाह ले जायें। बहुत-सी मानसिक और अध्यात्मिक गुत्थियों का समाधान और औषधि आपको इस में से प्राप्त होगी और स्वामीजी के अधिकार और ज्ञानपूर्ण समीक्षा के साथ प्रस्तुत होने पर यह अमूल्य दुर्बोध और अप्राप्य ज्ञान हम सब के लिए सहज और सरल हो गया है। आशा है, जनता इससे पूरा लाभ उठाएगी और इस तरह श्री० स्वामी जी के श्रम को सार्थक बनाएगी।

बलिदान-भवन

प्रधान
वैदिक साहित्य-प्रचारिणी सभा

निवेदन

यों तो हरएक मनुष्य अपने-अपने धर्म को सर्व-श्रेष्ठ धर्म मानता और उसी को संसार का भावी धर्म समझता है। परन्तु वस्तुतः संसार का भावी धर्म वही धर्म बन सकता है, जिसमें प्रत्येक देश और प्रत्येक राष्ट्र को अपनी ओर खींचने की पूरी क्षमता है, और जो एक दम स्वाभाविक तथा सार्वभौमिक है और समय के प्रभाव से ऊपर होकर सदा अपनी अमर-सत्ता और उपयोगिता की रक्षा कर सकता है। ऐसा सर्वगुण सम्पन्न और विश्वव्यापक धर्म वैदिक धर्म ही है और उसी में संसार का भावी धर्म बनने की पूर्ण क्षमता तथा योग्यता है। इसलिए संसार के महान् उपकार और सम्पूर्ण कल्याण के लिए वैदिक धर्म के प्रचार और विस्तार की कितनी भारी आवश्यकता है, यह बतलाने की जरूरत नहीं है।

वैदिक-साहित्य प्रचारिणी सभा का जन्म इसी पवित्र उद्देश्य की पूर्त्यर्थ हुआ है। प्रचार के अन्यान्य साधनों में दो मुख्य साधन कहे जाते हैं—एक प्लेटफार्म; दूसरा प्रेस। सभा ने अपने बल-बूते और विसात के अनुसार दूसरा ही साधन अपनाया है।

❀ ❀ ❀ ❀

सभा के उद्देश्य और उप-नियम इसी पुस्तक में अन्यत्र दिये हुए हैं। पाठक महोदय वहाँ देखने की कृपा करें। हम यहीं पर संक्षिप्त रूप से दो शब्दों में यह बता देना चाहते हैं कि, सभा ने अपने जन्म-काल से अब तक केवल १४-१५ महीने में किस प्रकार अपने उद्देश्य की ओर चलने में कृत-कार्यता प्राप्त की है।

यह बताना न होगा कि, सभा का प्रचार-कार्य किसी व्यापारिक नीति पर अवलम्बित नहीं है। उसकी रीति-नीति एकदम धार्मिक है। उसी नीति को सम्मुख रखकर सभा ने कुछ पुस्तकों को लागत मात्र पर, कुछ को लागत मात्र से भी कम दामों पर, कुछ को आधे मूल्य पर, और कुछ को केवल धर्मार्थ ही वितरण करके सर्व-साधारण के हाथों में पहुँचाने की कोशिश की है। पुस्तकों का ब्यौरा इस भाँति है:—

(१)	सत्यार्थप्रकाश हिन्दी-उर्दू	१५००
(२)	संस्कार विधि	७००

(३) दयानन्द ग्रन्थ संग्रह २००
(४) विविध पुस्तकें २०००

इसके अतिरिक्त सभा ने जिन पुस्तकों को स्वयं प्रकाशित करा कर जनता की सेवा में उपस्थित किया है उनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) ऋषि दयानन्द और आर्यसमाज ४०००
(२) साधु और कुम्भ महात्म्य १००००
(३) केन-उपनिषद् ४०००

अवश्य ही सभा को अपने इस कार्य-सम्पादन में कम कठिनाइयाँ नहीं उठानी पड़ीं और कार्य भी जैसा होना चाहिये था, वैसा नहीं बन पड़ा। परन्तु जो कुछ भी बन पड़ा है, वह अवहेलना या उपेक्षा की दृष्टि से परे, बहुत परे हुआ है। और इसका सम्पूर्ण श्रेय श्री० पं० मिश्रीलाल जी भार्गव, श्री० बाबू विश्वम्भर दास खुल्लर जी, तथा श्री० सेठ बैजनाथ जी व श्री० चौधरी प्रभुदयाल जी जैसे उदार और सहृदय मित्रों को है, जिन्होंने मेरी जेल-यात्रा के ६ महीने के लम्बे प्रवास में भी सभा के काम को इतने सुचारु रूप से चलाये रखा और किसी को भी मेरी अनुपस्थिति को अनुभव करने का अवसर न दिया।

सभा के पूज्य प्रधान स्व० श्री० स्वामी आनन्द भिक्षु जी सरस्वती के सुन्दर सहयोग और प्रेम-परामर्श को तो मैं

कभी भूल ही नहीं सकता! उनकी सतत और सचिन्त कृपा से ही आज सभा का अस्तित्व इतना उज्ज्वल, और सर्वप्रिय बन गया है।

श्री० पूज्यपाद महात्मा नारायण स्वामी जी तो सभा के संरक्षक तथा व्यवस्थापक ही ठहरे। आप की पवित्र और जीवन प्रदायिनी छत्रछाया से ही तो सभा इतनी सौभाग्यशालिनी बन सकी है। मैं आपकी महती कृपाओं के बखान करने में असमर्थ हूँ। सभा की ग्रन्थमाला में यह ईशोपनिषद् आप का चौथा पुष्प है। और यह कितना सुन्दर, कितना मधुर, कितना सौरभमय, मुञ्जुल पुष्प है, यह बताना अनावश्यक है।

हरिश्चन्द्र

मन्त्री—वैदिक साहित्य-प्रचारिणी सभा

देहली।

द्वितीय संस्करण
की
भूमिका

मैं यह अनुमान भी नहीं कर सकता था कि इस संक्षिप्त-सी उपनिषद् व्याख्या का, न केवल अङ्गरेज़ी उर्दू संस्करण अपितु भाषा में भी दूसरा संस्करण निकालने की ज़रूरत पड़ेगी। इससे यह बात तो स्पष्ट ही है कि अब भी ऋषि-मुनियों के छोड़े हुए साहित्य का दुनिया में कम मान नहीं है। इस संस्करण में अनेक स्थल पर वृद्धि की गयी है, और पाठक देखेंगे कि, उस वृद्धि से व्याख्या की उपयोगिता कुछ-न-कुछ बढ़ गयी है। जो हो, मैं कृतज्ञता प्रकाश करते हुए इस दूसरे संस्करण को उदार पाठकों के सामने रखता हूँ।

रामगढ़
भाद्रपद शु० ५
सं० १९८४ वि०

—नारायण स्वामी

❀ ओ३म ❀

तृतीय संस्करण

की

भूमिका

ईशोपनिषद् व्याख्या के दो संस्करण आर्यभाषा में और दो ही संस्करण अङ्गरेजी और उर्दू में निकल चुके हैं। यह आर्यभाषा का तीसरा संस्करण है, जो अब प्रकाशित किया जारहा है। इस संस्करण में भी अनेक उपयोगी बातें स्थल-स्थल पर बढ़ा दी गयी हैं, जिनसे एक हद तक पुस्तक की उपयोगिता बढ़ गयी है। ब्रह्म-विद्या के प्रेमियों ने जितना मान इस तुच्छ-सी व्याख्या का किया है, उसके लिए मैं उनका कृतज्ञ और आभारी हूँ। इस संस्करण को भी लोकप्रिय होने की आशा के साथ स्वाध्याय का मर्म जाननेवाली जनता के सम्मुख रखता हूँ।

बलिदान भवन, देहली
फाल्गुन शु० १२
सं० १९८७ वि०

—नारायण स्वामी

उपोद्घात

उपनिषद्-भवन की आधारशिला ईशोपनिषद् है। इस उपनिषद् में जो शिक्षाएँ दी गयी हैं, उनको वेद अथवा उपनिषद् की शिक्षा का सार कह सकते हैं, और इन्हीं शिक्षाओं का विस्तार पश्चात की उपनिषदों में किया गया है। उदाहरण की रीति से ईशोपनिषद् की एक शिक्षा है—"नैनद्देवा आप्नुवन्" (देखो मन्त्र ४) अर्थात् "इन्द्रियों से ईश्वर प्राप्तव्य नहीं है।" बाद की सम्पूर्ण दूसरी (केन) उपनिषद् में इसी शिक्षा का विस्तार किया गया है। ईशोपनिषद् यजुर्वेद का चालीसवाँ अध्याय है। अन्त में थोड़ा-सा अन्तर अवश्य वेद और उपनिषद् के पाठ में है, परन्तु उससे आशय का भेद नहीं होता। इस प्रकार उपनिषदों की शिक्षा (ब्रह्म-विद्या) वेद-मूलक है। और भी अनेक स्थलों पर वेदों में ब्रह्मविद्या की शिक्षा का मूल पाया जाता है। उदाहरण की रीति से देखो निम्न वाक्य—

"वेनस्तत्पश्यन् निहितं गुहासत्" ॥१॥ यजुर्वेद (३२।८)

अर्थात विद्वान् उसको गुहा (हृदय) में देखता है।

"आत्मनात्मानमभिसंविवेश" ॥२॥ (यजुर्वेद ३२।११)

अर्थात् आत्मा (जीव) के द्वारा आत्मा (ब्रह्म) में प्रवेश करता है। इस प्रकार की अनेक शिक्षाएँ चारों वेदों में फैली हुई पायी जाती हैं। जब हम इस प्रकार ब्रह्म- (परा)

विद्या को भी वेद-मूलक कहते हैं, तब स्वाभाविक रीति से हमारे सम्मुख मुण्डकोपनिषद् का प्रारम्भिक वाक्य (देखो १।१।५) आता है, जिसमें वेद और वेदाङ्गों की गणना अपरा विद्या में की गयी है। यदि ब्रह्म- (परा) विद्या भी वेद-मूलक है, तब वेदों को 'अपरा' क्यों कहा गया है ? इसका उत्तर स्पष्ट है कि वेद केवल परा विद्या का पुस्तक नहीं है। वेद में परा (ब्रह्म) और अपरा (लोक) दोनों प्रकार की विद्याओं का समावेश है। दोनों शिक्षाओं के सम्मिलित होने से उन्हें केवल परा (ब्रह्म) विद्या का पुस्तक नहीं कह सकते। इसीलिए उनकी गणना केवल परा विद्या में नहीं की गयी है। अस्तु। ब्रह्म-विद्या के वेद-मूलक होने में किसी को किन्तु-परन्तु करने की ज़रा भी गुञ्जाइश नहीं है। इस ईशोपनिषद् में जो शिक्षाएँ दी गयी हैं, उनके प्रकार पर दृष्टि-पात करने ही से प्रकट होजाता है कि उनमें ब्रह्म-विद्या का मूल मौजूद है। इस उपनिषद् के चार भाग हैं:—

पहला भाग—प्रथम के ३ मन्त्र पहला भाग हैं, जिनमें कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया गया है, अर्थात् उनमें पाँच कर्त्तव्यों का विधान किया गया है, जिनको आचरण में लाने ही से कोई व्यक्ति ब्रह्म-विद्या में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त किया करता है। वे पाँच कर्त्तव्य ये हैं—

(१) ईश्वर को प्रत्येक स्थान में मौजूद समझना;

(२) संसार की समस्त वस्तुओं को भोगते हुए यह

भावना रखना कि वे सब वस्तुएँ ईश्वर की हैं। भोक्ता का इनमें केवल प्रयोगाधिकार है;

(३) किसी का धन या स्वत्व नहीं लेना;

(४) कर्त्तव्य समझ और फल की आकांक्षा से रहित होकर सदैव कर्म करना;

(५) अन्तरात्मा के विरुद्ध आचरण न करना।

दूसरा भाग—उपनिषद् का दूसरा भाग ४ से आठवें मन्त्र तक है, जिसमें ब्रह्मविद्या का वर्णन है और इन्हीं ५ मन्त्रों में ब्रह्मविद्यामूलक मुख्य सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है।

तीसरा भाग—उपनिषद् का तीसरा भाग, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है कि किस प्रकार ब्रह्मविद्या को प्राप्त करे, नौ से सोलहवें मन्त्र तक पूरा होता है।

चौथा भाग—सत्रहवें मन्त्र में एक महत्वपूर्ण परीक्षा की बात कही गयी है, और अन्तिम अठ्ठारहवें मन्त्र में प्रभु से सफलता की प्रार्थना की गयी है और इसी प्रार्थना के साथ उपनिषद् समाप्त हो जाती है। उपनिषद् के इस स्थूल विवरण से ही उपनिषद् की महत्ता प्रकट होती है। इतने थोड़े मन्त्रों में इतनी महत्वपूर्ण शिक्षाओं का विधान ही वेद की महत्ता का द्योतक है। समय-समय पर अनेक विद्वानों ने इस उपनिषद् पर विचार किया और बहुतों ने उसकी टीकाएँ लिखीं और व्याख्याएँ भी की हैं। इनमें से प्रायः ४१ टीकाओं के देखने का सौभाग्य

मुझे प्राप्त हुआ है। इनमें सबसे पुरानी टीका संस्कृत में श्रीशङ्कराचार्य की है। विधर्मियों में सबसे पुराना अनुवाद शाहज़ादा दाराशिकोह का किया हुआ फ़ारसी-भाषा में है। इस निष्पक्ष शाहज़ादे की लिखी हुई भूमिका प्रकट करती है कि उसे शान्ति केवल इन्हीं उपनिषदों की शिक्षा से प्राप्त हुई थी। जर्मन के प्रसिद्ध दार्शनिक शौपनहार ने अपनी जगत प्रसिद्ध फ़िलासफ़ी का आश्रय छोड़कर उपनिषदों ही को जीवन और अन्त दोनों कालों के लिए शान्तिदायक समझा था*। निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की कोई-न-कोई विशेषता अधिकांश टीकाओं में मिलती हैं। शङ्कराचार्यजी की टीका की विशेषता यह है कि उन्होंने उपनिषद् के मन्त्रों को अद्वैतपरक लगाया है। इसके विपरीत श्रीरामानुजाचार्य उसे विशिष्टाद्वैतपरक और श्रीमाधवाचार्य द्वैतपरक समझते हैं। वास्तव में उपनिषद् क्या है? इसका उत्तर उपनिषद् के अक्षरार्थ से प्राप्त होता है। मैंने यद्यपि अनेक टीकाएँ देखीं, परन्तु अन्त में उन टीकाओं की विभिन्नता देखते हुए सिद्धान्त यही स्थिर किया कि उपनिषदों का भाव उनके ही अक्षरों से समझना चाहिये। इस छोटी-सी पुस्तक को उसी यत्न का फल समझना चाहिये। इसमें किसी भी टीका का अनुकरण नहीं किया गया है। जो

---

*In the whole world there is no study so beneficial and so elevating as that of Upnishads. It has been the solace of my life and it will be the solace of my death. (*Schopenhaur*)

कुछ लिखा गया यह वही है, जो उपनिषद् के अक्षरों से समझा जा सकता है या कम-से-कम मैंने समझा है।

स्वाध्यायशील नर-नारी इन पृष्ठों को पढ़कर विश्वास है कि इसी परिणाम पर पहुँचेंगे। एक दूसरा कारण इन पृष्ठों के लिखने का यह था कि प्रायः ४-५ वर्ष से जब से मैंने उपनिषद् की कथाओं का प्रचार शुरू किया था, तब से कथा सुननेवाले तक़ाज़ा कर रहे थे कि उसी ढङ्ग से जिस से मैं कथाएँ कहा करता हूँ, उपनिषदों की टीका लिख दूँ। यद्यपि यह समझकर कि जब अनेक टीकाएँ पहले ही से मौजूद हैं, फिर क्यों कोई नवीन टीका और लिखी जाय, मैं बराबर टीका लिखने की बात टालता रहा, परन्तु अन्त में विवश होकर अध्यात्म-विद्या के प्रेमियों की इच्छा के सामने शिर झुकाना ही पड़ा। मैं शायद और भी कुछ देर तक इस बात को टालता, परन्तु 'प्रभात' के सम्पादक प्रिय धर्मेन्द्रनाथ जी के तकाजों ने कि 'प्रभात' के लिए अध्यात्म-विद्या के सम्बन्ध में कुछ-न-कुछ लिखना ही चाहिये, इस काम को पूरा करने के लिए बाधित किया और उन्हीं के 'प्रभात' में लिखे हुए लेखों का यह संग्रह है। यदि इन पृष्ठों के स्वाध्याय से किन्हीं का कुछ भी मनोरञ्जन हो; तो उसका श्रेय धर्मेन्द्रनाथ जी को ही प्राप्त समझना चाहिये।

—नारायण स्वामी

ईशोपनिषद्

ईशा वास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

कुर्वन्नवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः ।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥२॥

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

एक अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥४॥

तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वन्तिके ।
भीतर तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य वाह्यतः ॥५॥

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥६॥

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः ।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥७॥

सपर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम् ।
कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छा-
श्वतीभ्यः समाभ्यः ॥८॥

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬं रताः ॥ ९ ॥
अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुरविद्यायाः ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥
विद्याञ्चाविद्यांच यस्तद्वेदोभयᳬं सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतश्नुते ॥ ११ ॥
अन्धन्तमः प्रविशंति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याᳬं रताः ॥ १२ ॥
अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां येनस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥
सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद्वेदाभयᳬंसह
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥
हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्
तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥
पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते
रूपङ्कल्याणतमंतत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषःसोऽहमस्मि १६
वायुरनिलममृतमथेदं भस्मांतᳬं शरीरम्
ओम् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतᳬं स्मर ॥ १७ ॥
अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्
युयध्योस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम।१८।

* ओ३म *

ईशोपनिषद
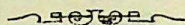
ईशावास्यमिदꣳसर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद्धनम् ॥१॥

[१] (इदंसर्वम्) यह सब (यत्किञ्च) जो कुछ (जगत्याम्) पृथ्वी पर (जगत्) चराचर वस्तु हैं (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) आच्छादन करने योग्य अर्थात् आच्छादित हैं [२] (तेन) उसी ईश्वर के (त्यक्तेन) दिये हुए पदार्थों से (भुञ्जीथाः) भोग कर [३] (कस्यस्वित) किसी के भी (धनम्) धन का (मा गृधः) लालच मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳ समाः।
एवन्त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

[४] (इह) यहाँ (कर्म्माणि) कर्मों को (कुर्वन्नेव) करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीने की इच्छा करे (एवम) इस प्रकार (त्वयि) तुझ (नरे) मनुष्य में (कर्म) कर्म (न, लिप्यते) नहीं लिप्त होता (इतः) इससे भिन्न (अन्यथा) और कोई मार्ग (न) नहीं है।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥३॥

[५] (ये के च) जो कोई (आत्महनः) आत्मा के घातक (आत्मा के विरुद्ध आचरण करनेवाले) (जनाः) मनुष्य हैं (ते) वे (प्रेत्य) मरकर (अन्धेन तमसा) गहरे अँधेरे से (आवृताः) आच्छादित हुए (ते, असुर्य्याः नाम लोकाः) वे प्रकाश-रहित नाम वाले जो लोक (योनियाँ) हैं (तान्) उन (योनियों) को (अभिगच्छन्ति) प्राप्त होते हैं ।

व्याख्या

मनुष्य शक्ति का केन्द्र है। शक्ति उसीके भीतर निहित है। इन्हीं शक्तियों के विकास का नाम शिक्षा है। मनुष्य-जीवन की सफलता का भेद यही शक्ति-विकास है। यही शक्ति विकसित होकर अभ्युदय और निःश्रेयस, लोक और परलोक की सिद्धि का कारण बनती है। शक्ति-विकास के कार्य्य-क्रम का ही नाम अध्यात्म- (योग-) विद्या है। योग, कर्म में कुशलता का नाम है, जैसा कि गीता में कहा गया है—'योगः कर्मसु कौशलम्' । महामुनि पतञ्जलि ने भी योग को क्रिया- (कर्म-) योग ही कहा है और उसके केवल तीन विभाग किये हैं—"तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोग (योगदर्शन २-३) अर्थात तप, स्वाध्याय और

ईश्वर-भक्ति करने ही से योग की सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। सुतराम् क्रिया (कर्म) ही योग है। उस क्रिया को करने के लिए सबसे पहला साधन तप है। तप व्रतानुष्ठान को कहते हैं। व्रत नाम कर्त्तव्य का है। जिस शक्ति के विकास के लिए जिस तप को करना, जिस व्रत का अनुष्ठान करना, या जिस कर्त्तव्य का पालन करना है, उसी का नाम कर्त्तव्य-पञ्चक है, अर्थात् क्रियात्मक जीवन बनाने के लिए जिस प्रकार के वातावरण (Atmosphere) के उत्पन्न करने की जरूरत है, वह उन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से उत्पन्न होता है, जिसका नाम कर्त्तव्य-पञ्चक हैं। यह उपनिषद् की आदिम शिक्षा है। इन्हीं कर्त्तव्यों के पालन करने से किसी भी व्यक्ति को वह अधिकार प्राप्त हुआ करता है, जिसका नाम आध्यात्म-विद्या में प्रवेशाधिकार है। इसीलिए उपनिषदों की शिक्षा के वर्णन करने में पहला स्थान इसी कर्त्तव्य-पञ्चक को दिया गया है।

पहला कर्त्तव्य

पहली बात यह है कि मनुष्य उच्च प्रकार की आस्तिकता के भावों से अपने हृदय को भर ले। इसका साधन यह है कि मनुष्य ईश्वर को परिच्छिन्न (एकदेशीय) न मान कर उसे विभु (व्यापक) रूप में माने, अर्थात् जिस प्रकार प्रत्येक वस्तु आकाश में है और प्रत्येक वस्तु के भीतर भी आकाश है, इसी प्रकार से ईश्वर भी जगत् में ओत-प्रोत होरहा

है। कोई वस्तु ऐसी नहीं है, जो ईश्वर में न हो और जिसमें ईश्वर न हो। इस सिद्धान्त के आचरण में आने से मनुष्य का हृदय लचकीला हो जाता है। हृदय के लचकीला होने के लिए दो बातों की जरूरत होती है। प्रथम वह निष्पाप हो, दूसरे उसमें प्रेम की मात्रा अधिकता से हो। ये दोनों बातें ईश्वर को उपर्युक्त भाँति सर्वव्यापक मानने से मनुष्य में आया करतीं हैं।

मनुष्य पापाचरण के लिए सदैव एकान्त की खोज किया करता है। चोर इसीलिए रात्रि को अपनी सफलता का साधक समझता है, क्योंकि उसमें उस प्रकार के एकान्त की अधिक सम्भावना होती है, जो ऐसे दुष्ट कर्मों के लिए आवश्यक है; परन्तु ईश्वर का विश्वास होने पर पापाचरण के लिए एकान्त स्थान मिल ही नहीं सकता। एक उर्दू के कवि ने इसी भाव को अपनी एक कविता में इस प्रकार प्रकट किया है—

जाहिद* शराब पीने दे मसजिद में बैठकर।
या वह जगह बता कि जहाँ पर खुदा न हो॥

अस्तु, जब तक मनुष्य के हृदय में नास्तिकता न आये, तब तक वह पाप नहीं कर सकता। इसलिए ईश्वर के सर्वव्यापकत्व पर विश्वास होने ही से मनुष्य निष्पाप हो सकता है। दूसरी बात प्रेम है। मनुष्य ईश्वर को सर्वव्यापक मानने से विवश

* परहेज़गार—शुद्धाचारी मनुष्य

है कि प्रत्येक प्राणी में ईश्वर की सत्ता, उसके व्यापकत्व गुण से स्वीकार करे; और जब इस प्रकार प्रत्येक प्राणी में चाहे वह अछूत हों, या और कोई, उससे भी निकृष्ट ईश्वर का मौजूद होना मानेगा, तब उससे घृणा किस प्रकार कर सकता है। घृणा का अभाव ही प्रेम का द्वार है। घृणा भी नास्तिकता ही से उत्पन्न होती है। जिससे कोई घृणा करेगा, अवश्य उसमें ईश्वर की सत्ता का अभाव मानेगा। इसी का नाम तो नास्तिकता है। निष्कर्ष यह है कि निष्पापता और प्रेम से मनुष्यों के हृदयों में लचकीलापन (कठोरता का अभाव) आया करता है, और इन दोनों साधनों की प्राप्ति ईश्वर में व्यापकत्व पर विश्वास होने ही से हुआ करती है। उपनिषद् ने इस शिक्षा को अपने शब्दों में इस प्रकार प्रकट किया है—'ईशावास्यमिदँ सर्वं यत्किञ्च जगत्याञ्जगत्।'

दूसरा कर्त्तव्य

उपनिषद् के संक्षिप्त से तीन शब्दों में वर्णन किया गया है। वे शब्द ये हैं—'तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा' अर्थात उस (ईश्वर) के दिये हुए से भोग करे। उपनिषदों ने प्रत्येक प्रकार के भोग की आज्ञा दी है। मनुष्य विवाह करके सन्तान उत्पन्न करे, शक्ति प्राप्त करके राज्य प्राप्त करे और उसका उपभोग करे, कृषि-व्यापार तथा अन्य कला-कौशलादि से धन प्राप्त करके उसका इस्तेमाल करे इत्यादि।

उपनिषद् इन सबको विहित बतलाती है, परन्तु एक शर्त्त इन सबके भोग के साथ लगाती है, और वह यह है कि मनुष्य इन प्राप्त भोज्य पदार्थों को ईश्वर का समझकर भोग करे। ऐसे विश्वास से मनुष्य प्रत्येक पदार्थ, राज्य, धनादि को ईश्वर का समझकर उनमें केवल अपना प्रयोगाधिकार समझेगा और ममत्व न जोड़ सकेगा कि "अमुक पदार्थ मेरा है।" संसार के समस्त दुःखों का मूल ममता है। दुःख प्रायः किसी-न-किसी वस्तु के पृथक् होने से हुआ करते हैं, परन्तु जब इन्हीं वस्तुओं को स्वयं छोड़ देता है, तब दुःख नहीं, अपितु सुख हुआ करता है। एक प्रोफेसर को कॉलिज में अनेक वस्तुएँ—पुस्तकें, चित्र, कुर्सी, मेज़ आदि-प्रयोग के लिए मिली हुई हैं। वह उनका कॉलिज के घण्टों में प्रयोग करता है। प्रयोग-काल (कॉलिज के घण्टों) के भीतर यदि कोई उससे इन वस्तुओं को लेना चाहता है तो नहीं देता, परन्तु जब कॉलिज का अन्तिम घण्टा बजा और इन वस्तुओं के प्रयोग का समय ख़तम हुआ, तब वह स्वयं इन वस्तुओं को कॉलिज ही में छोड़कर तने-तनहा चल देता है। उस समय यदि कोई कहता है कि उन वस्तुओं में से वह किसी को अपने साथ लेता जाय तो वह उसे अपने ऊपर बोझ समझता है। प्रोफ़ेसर ने जब इन वस्तुओं के सम्बन्ध में अपना केवल प्रयोगाधिकार समझा, तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कुछ भी दुःख नहीं हुआ, परन्तु यदि वह इन वस्तुओं में

ममता जोड़ लेता है कि 'ये वस्तुएँ मेरी हैं', तब उसे इन वस्तुओं के छोड़ने में कष्ट अनुभव करना पड़ता है। अस्तु। प्राणियों में जब तक ममता का प्राबल्य रहता है, तब तक वह किसी वस्तु को छोड़ना नहीं चाहता। परन्तु जब उन वस्तुओं में वह अपना केवल प्रयोगाधिकार समझता है, तब प्रयोग का समय समाप्त होने पर स्वयं उन्हें छोड़ दिया करता है। वस्तुओं के छीननेवाले चोर, डाकू, राजे-महाराजे हुआ ही करते हैं; परन्तु एक बड़ी प्रबल शक्ति है, जो गिन-गिनकर एक-एक वस्तु प्राणियों से ले लिया करती है और कुछ भी नहीं छोड़ा करती। उस शक्ति का नाम है मृत्यु। मृत्यु आकर पदार्थों को छीनती है, परन्तु ममता का वशीभूत प्राणी उन्हें देना नहीं चाहता। इसी कलह का नाम मृत्यु-संवेदना (मरने का दुःख) है। मृत्यु वास्तव में दुःखप्रद नहीं, सुखप्रद है; परन्तु मरने के समय ये दुःख, मनुष्यों को ममता के वश होकर उठाने पड़ते हैं। जो मनुष्य सांसारिक भोग्य पदार्थों में अपना प्रयोगाधिकार समझता है, वह इन्हें प्रयोग का समय (जीवन-काल = आयु) समाप्त होने पर छोड़ देता है, और फिर उसके पास कुछ रहता ही नहीं, जिसे मृत्यु आकर अपहरण करे। इसलिए उसके लिए मृत्यु का समय दुःख का समय नहीं, अपितु सुख और शान्ति के साथ संसार छोड़ने का समय होता है; जिसमें उसे आशा और आशा ही नहीं, किन्तु विश्वास

होता है कि वह यह यात्रा चिरकालीन सुख और शान्ति की प्राप्ति करने के लिए कर रहा है। और ऐसे व्यक्ति मृत्यु से डरते नहीं, अपितु मृत्यु का स्वागत किया करते हैं, और प्रसन्नता के साथ हँसते-हँसते संसार को छोड़ दिया करते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में जब यह सिद्धान्त दुनिया के सामने रखा जाता है कि वह दुःखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है, तब मनुष्य उसके स्वीकार करने में हिचकिचाते हैं। एक व्यक्ति जो कुष्ठ रोग से पीड़ित है, और उसके शरीर से रक्त और मवाद निकला करता है, जिससे प्रत्येक क्षण उसे व्यथित रहना पड़ता है—इसपर तुर्रा यह कि वह जेलख़ाने में क़ैद भी है। किसी प्रकार की स्वतन्त्रता न होने से उसका जीवन दुःख और केवल दुःखमय बन रहा है। परन्तु ऐसे व्यक्ति से पूछते हैं कि क्या भाई तुम इन सारी विपत्तियों से बचने के लिए मरना चाहते हो, तो मरने का नाम सुनकर वह कानों पर हाथ धरता है। क्रियात्मक जगत् में मृत्यु का इतना भय मनुष्यों के हृदय में बैठा हुआ है, फिर मृत्यु को किस प्रकार सुखप्रद कह सकते हैं। यही कारण है, जिससे मनुष्य इस सिद्धान्त को स्वीकार करने में हिचर-मिचर करते हैं। परन्तु जैसा कि कहा गया है, यह दुःख मनुष्यों को कब होता है जब वे ममता से नाता जोड़ लेते हैं। एक अत्यन्त रूपवान् पुरुष अपना मुँह जब हँसानेवाले शीशे (Ludicrous =

Laughing glass) में देखता है, तो उसका अच्छा मुँह भी बहुत भौंडा और हँसने के योग्य दिखाई देता है। तो इसमें क्या मुँह का दोष है ? मुँह तो अच्छा खासा है। इसमें दोष असल में उस हास्यकारी शीशे ही का है, जिसके कारण वह मुँह बुरा दिखाई देता है। इसी प्रकार मृत्यु तो दुःख-प्रद नहीं अपितु सुखप्रद ही है। परन्तु जब मनुष्य ममता के आइने को सामने रखकर उसमें उसे (मृत्यु को) देखता है, तब डरावनी और भयावनी प्रतीत होने लगती है। इससे भी स्पष्ट है कि दोष मृत्यु का नहीं, किन्तु उसी ममता-रूपी हास्यकारी शीशे का है। यदि इस शीशे को हटाकर देखें तो फिर मृत्यु की प्यारी और असली सूरत दिखाई देने लगती है।

मृत्यु के प्रिय होने के सम्बन्ध में डाक्टर ह्यूग लौन्सडेल हैंडस (Dr. Hugh Lonsdale Hands) ने आत्मघात के द्वारा परीक्षण करके मृत्यु के प्रिय होने की पुष्टि की है। उसने अपनी डायरी में इस प्रकार लिखा है—

I have taken half an ounce of aconite, an ounce of Chloral Hydrate. Both are nice except the tingling, waiting—feeling very happy—first time I ever felt without worries as if free. + + + Japs are right—Death is lovely. I feel fine no pain—

इसका भाव यह है कि विष खाने के बाद उस ने लिखा "प्रतीक्षा कर रहा हूँ! बहुत प्रसन्न हूँ! यह पहली बार है कि मैं अपने को समस्त दुःखों से मुक्त अनुभव कर रहा हूँ। जापानी ठीक कहते हैं—"मृत्यु प्रिय है, मैं अपने को अच्छा समझ रहा हूँ। मुझे कोई तकलीफ नहीं है।"

सारांश यह है कि इस दूसरे कर्त्तव्य को पालन करने से मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होता है। किन्हीं-किन्हीं पुरुषों को ऐसा भ्रम है, या हो जाता है कि यदि मनुष्य सांसारिक पदार्थों—राज्यादि—में ममता न जोड़ें तो फिर उनकी रक्षा न कर सकेंगे। परन्तु यह उनकी भूल है। मनुष्य उन वस्तुओं की भी वैसी ही रक्षा—उपर्युक्त प्रोफ़ेसर की तरह किया करता है, जो उसे प्रयोग के लिए मिली हों, जैसी उनकी करता है जिनमें उनसे मेरेपन का नाता जोड़ा हुआ है। इसलिए लोकदृष्टि से भी यह नियम वैसा ही उपयोगी है, जैसा परलोक-दृष्टि से। मनुष्य मृत्यु के भय से स्वतन्त्र होकर संसार में कौन-सा बड़े से बड़ा काम है, जिसे नहीं कर सकता।

तीसरा कर्त्तव्य

बिना शान्ति का वातावरण उत्पन्न किये संसार का कोई भी काम पूरा नहीं होता, फिर अध्यात्म-विद्या का तो

कहना ही क्या, उसे तो कोई अशान्ति में या अशान्त-चित्त होकर प्राप्त ही नहीं कर सकता। अशान्ति का मूल कारण किसी व्यक्ति या जाति का स्वत्व अपहरण भी हुआ करता है।

दुनिया में भिन्न-भिन्न जातियों में जितने भी युद्ध हुआ करते हैं, उनका मुख्य कारण यही होता है कि किसी जाति का स्वत्व छीना गया या उसकी स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचायी गयी हो। यही कारण व्यक्ति व्यक्ति के झगड़ों की तह में छिपा हुआ मिलता है। इसलिए 'कारणाभावात्कार्य्याभाव:' के नियमानुसार उपनिषदों ने तीसरा कर्त्तव्य यह ठहराया है कि "मागृध: कस्यस्विद्धनम" अर्थात् किसी के धन या स्वत्व लेने की चेष्टा मत करो। न किसी का धन लिया जायगा, न किसी का स्वत्व छीना जायगा, न किसी की स्वतन्त्रता में बाधा पहुँचायी जायगी और न उनकी सन्तति अशान्ति का जन्म होगा।

चौथा कर्त्तव्य

उपनिषद् ने चौथा कर्त्तव्य इन शब्दों में बतलाया है कि कर्म करते हुए ही मनुष्य १०० वर्ष तक जीने की इच्छा करे, परन्तु शर्त यह है कि कर्म इस प्रकार से करने चाहिये कि वे करने वाले को लिप्त न करें, अर्थात मनुष्य उनमें फँस न जाय। उपनिषद् ने खुले शब्दों में यहाँ यह

भी कह दिया कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए इस (कर्म-योग) के सिवा कोई दूसरा मार्ग नहीं है।

यह कर्त्तव्य दो भागों में विभक्त है—(१) मनुष्य को निरन्तर कर्म करने का अभ्यास करना चाहिये; (२) वे कर्म कर्त्ता को फाँसनेवाले न हों।

पहले भाग पर दृष्टिपात करने से प्रकट होता है कि "कर्म" सृष्टि का सार्वतन्त्रिक नियम है—जगत् में कोई वस्तु ऐसी दिखाई नहीं देती कि जो क्रिया-रहित हो। सृष्टि का महान्-से-महान् कार्य सूर्य प्रतिक्षण गति में रहता है। पृथिवी गतिमय है, चन्द्रमा चलता है। यदि छोटी-से-छोटी वस्तु एक कण (Atom) को लें, और देखें तो एक बड़ा चमत्कार दिखाई देता है। उस कण के भीतर एक केन्द्र है और उसके चारों ओर असंख्य विद्युत्कण (Electrons) उसी प्रकार घूमते दिखाई देते हैं। जिस प्रकार अनेक ग्रह और उपग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं। इसी प्रकार ब्रह्माण्ड का एक-एक कण भी सूर्य-मण्डल (Solar System) का संक्षिप्त रूप है। क्या वह कण जिसके भीतर इतना कार्य होरहा है, ठहरा हुआ या निष्क्रिय है? विज्ञान का उत्तर यह है कि कदापि नहीं। यह पुस्तक जो सामने मेज़ पर रखी है क्या ठहरी हुई है? कदापि नहीं। पुस्तक के पृष्ठ जिन कणों से बने हैं, उनमें से प्रत्येक कण में कम्पन (Vibration) पाया जाता है। यदि कम्पन न

हो, तो कोई वस्तु वस्तु, रूप में बाक़ी न रहे। इससे स्पष्ट है कि जगत् की छोटी-से-छोटी वस्तु कण है, जिसके भीतर गति हो रही है, और जो स्वयं भी सूर्य-मण्डल की तरह गति में है। जब कर्म का साम्राज्य जगद्व्यापी है, तो मनुष्य उससे किस प्रकार बच सकता था? इसलिए मनुष्य को भी कर्मनिष्ठ होना चाहिये, उपनिषद् का उपर्युक्त वाक्य जीवन की अन्तिम घड़ी तक कर्म करने का विधायक है। अवश्य संन्यास कर्म के त्याग को कहते हैं, परन्तु कर्म से प्रयोजन काम्य (सकाम) कर्म यज्ञादि से है, और उन्हीं का त्याग संन्यास है।

कर्त्तव्य का दूसरा भाग यह है कि मनुष्य कर्म में लिप्त न हो। कर्त्तव्य के इस भाग को समझने के लिए आवश्यक है कि समझ लिया जावे कि कर्म दो प्रकार के हैं—(१)स काम (२) निष्काम। सकाम कर्म, फल की इच्छा रख कर करने का नाम है। जबकि निष्काम कर्म, फल की इच्छा त्याग कर धर्म (कर्त्तव्य) समझकर कर्म करने को कहते हैं। इन दोनों में अन्तर यह है कि सकाम कर्म से वह वासना उत्पन्न होती है जो फिर उसी प्रकार के कर्म की प्रेरणा करती रहती है। योग-दर्शन का भाष्य करते हुए व्यास मुनि ने एक संसार-चक्र की बात कही है। वह चक्र छः अरे वाला है। वे अरे ये हैं—मनुष्य इच्छा करता है उसका फल उसे सुख मिलता है, उससे सुख की वासना बनती है। वह

फिर उसी प्रकार की इच्छा कराती है उससे फिर सुख और फिर वही वासना और फिर वही इच्छा। इस प्रकार, (१) इच्छा, (२) उसका फल सुख, (३) सुख की वासना, ये चक्र के तीन अरे हैं, जो बराबर उपर्युक्त भाँति घूमा करते हैं। बाकी तीन अरे, (१) द्वेष, (२) उसका फल दुःख, (३) दुःख की वासना है। ये भी पहले ३ अरों की भाँति घूमा करते हैं। यही छः अरोंवाला संसार-चक्र है, जो संसारी पुरुषों को चक्र में रखता है। इसी चक्र में रहने का नाम कर्म में मनुष्य का, या कर्म का मनुष्य में, लिप्त होना है। उपनिषद् मनुष्यों का कर्त्तव्य ठहराती है कि कर्म करते हुए भी इस चक्र में न फँसे। फँसे हुए प्राणी इस चक्र से किस प्रकार निकल सकते हैं, उसका उपाय और एकमात्र उपाय सकामता का निष्कामता में परिवर्तन करना है। इस परिवर्तन से प्रभावित मनुष्य निष्काम कर्म करके वासनाओं का नाश करता है। उनके रहने से सुख-दुःख भी पृथक् हो जाते हैं और सुख-दुःख के न रहने से उनकी वासनाएँ भी नहीं बन सकतीं और इस प्रकार चक्र के छओं अरे निकम्मे होकर चक्र टूट जाता है और मनुष्य उससे निकल आता है। यही चौथा कर्त्तव्य है, जिसके पालन किये बिना, व्यक्ति अध्यात्म-जगत् में प्रवेश का अधिकारी नहीं बन सकता।

पाँचवाँ कर्त्तव्य

उपनिषद् में पाँचवें कर्त्तव्य का विधान इस प्रकार किया गया है —

आत्महनन (आत्मा के विपरीत काम) करने वाले मर कर सत्व (प्रकाश) रहित और तम से आच्छादित योनियों को प्राप्त होते हैं।

मन्त्र में आत्म-हनन अर्थात आत्मा के प्रतिकूल कार्य को निषिद्ध ठहराया गया है। आत्मा के प्रतिकूल कार्य नहीं करना चाहिये; इसपर विचार करना है। आत्मा स्वरूप से शुद्ध और पवित्र है, किसी प्रकार के ईर्ष्या द्वेषादि दोषों से लिप्त नहीं। इसलिए आत्म-प्रेरणा भी जिसको अन्तःकरण के अनुकूल कार्य करना (कौनशैन्स Conscience) कहते हैं, इन दोनों से मुक्त होती है। इसी लिए धर्मशास्त्रकार मनु ने भी इसी आत्म-प्रेरणा को "स्वस्य च प्रियमात्मन" कहकर धर्म का अन्तिम साधन बतलाया है।

चरित्र-निर्माण करने का मुख्य साधन भी यही आत्म-प्रेरणा है। चरित्रवान् हुए बिना, मनुष्य आध्यात्म-जगत में प्रवेश नहीं कर सकता। इसीलिए उपनिषद् में इस बात पर विचार करते हुए कि कौन-कौन मनुष्य आत्मज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते, उनकी गणना में सबसे पहला नाम चरित्र-हीनों का लिया है। "नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।

(कठोपनिषद १। २। २४) आत्म प्रेरणा से किस प्रकार चरित निर्मित होता है इसके लिए किसी बड़ी व्याख्या की जरूरत नहीं। चरित्र को ही सदभ्यास भी कहते हैं—अभ्यास एक ही कर्त्तव्य को अनेक बार कार्य में परिणत करने से बना करता है। मनुष्य जब कोई अच्छा या बुरा काम करना चाहता है, तो अच्छे काम करने में आत्म-प्रेरणा में उसको उत्साह और प्रसन्नता उत्पन्न होती हैं, परन्तु जब बुरा काम करने का बिचार करता है, तो उसके सम्मुख भीतर से भय, लज्जा और शङ्का के रूप में अनुत्साह और अप्रसन्नता पैदा होती है। पहली सूरत में किसी अच्छे कर्म को अनेक बार करके प्राणी उसके करने का अभ्यास (आदत) बना लेता है और फिर उस काम को वह इच्छा से नहीं, किन्तु अभ्यासवश किया करता है। इसी का नाम सदभ्यास या चरित्र है। इसी प्रकार जब कुसङ्गति में पड़कर कुसङ्ग दोष से आत्म-प्रेरणा के विरुद्ध मनुष्य कोई बुरा काम अनेक बार कर लेता है, तो उससे असदभ्यास बनता है और इससे वह उस बुराई को भी बिना इच्छा के किन्हीं सूरतों में इच्छा के विरुद्ध भी—अभ्यास वश करने लगता है। कल्पना करो एक मनुष्य ने अफयून खाने का बुरा अभ्यास बना लिया है। अब जब दूसरे पुरुष उसको इस दुष्कर्म की दुष्कर्मता बतलाते हैं, तो वह उन्हें स्वीकार कर लेता है, परन्तु जब

कहते हैं कि फिर उसे छोड़ क्यों नहीं देते, तब वह अपनी विवशता प्रकट करते हुए कह देता है कि क्या करूं ? आदत से लाचार हूँ।

इस प्रकार विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा-प्रेरणा से सदभ्यास या चरित्र बना करता है, और उसके विरुद्ध आचरण करने से असदभ्यास या दुश्चरित्र। हमने देख लिया कि आत्मा के अनुकूल ही कार्य करके हम चरित्र-निर्माण करते हुए आत्म-जगत् में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर सकते हैं। पश्चिमी विचारकों ने भी उपनिषद् की सचाई के सामने शिर झुकाया है। इंगलैंड के प्रसिद्ध विद्वान् मारले ने एक पुस्तक लिखी है, जिसका नाम है राज़ीनामा (Compromise)। पुस्तक में इस बात पर विचार किया गया है कि किन सूरतों में राज़ीनामा हो सकता है ? उसने सम्मति के ३ दरजे किए हैं—

(१) सम्मति का स्थिर करना।

Formation of opinion.

(२) सम्मति का प्रकट करना।

Expression of opinion,

(३) सम्मति का कार्य में परिणत करना।

Execution of opinion.

इस प्रकार से सम्मति के तीन दरजे करते हुए मारले ने लिखा है कि सम्मति के स्थिर करने में कोई राज़ीनामा

नहीं हो सकता। हाँ, कुछ थोड़ा-सा राज़ीनामा (संख्या २) सम्मति के प्रकट करने में हो सकता है, और वह केवल इतना कि, जिस सम्मति के प्रकट करने से दुष्परिणामों के निकलने की सम्भावना हो उस सम्मति को प्रकट न किया जाय। यह वही बात है जिसे मनु ने—"न ब्रूयात् सत्यमप्रियम" के द्वारा प्रकट किया है। मारले की सम्मति में पूरा-पूरा राज़ीनामा (संख्या ३) सम्मति के कार्य में लाने ही में हो सकता है, अर्थात् अल्पपक्ष की सम्मति की उपेक्षा करके बहुपक्ष के मतानुकूल कार्य किया जाय, परन्तु उसकी यह स्थिर सम्मति है कि, (संख्या १) अर्थात् सम्मति के स्थिर करने में किसी दशा में भी कोई राज़ीनामा नहीं हो सकता। सम्मति का स्थिर करना क्या है ? आत्म-प्रेरणानुकूल किसी विचार का स्थिर करना। अतः यह स्पष्ट कि मारले ने भी आत्म-प्रेरणा के विरुद्धाचरण का विधान नहीं किया है। कर्तव्य पञ्चक में से यह पाँचवाँ कर्त्तव्य है—"आत्मा के अनुकूल कार्य करना।" इस प्रकार उपनिषदों ने सबसे पहिली बात आत्म-ज्ञान प्राप्त करने के लिए यही बतलायी है कि मनुष्य इन पाँचों कर्त्तव्यों को समझकर इनपर आचरण करे। वे पाँचों कर्त्तव्य ये हैं, एक बार फिर उन्हें हम यहाँ दुहराये देते हैं:—

(१) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में ईश्वर का सर्वव्यापकत्व मानना।

(२) जगत् के भोग्य पदार्थों में, ममता को न जोड़कर अपना प्रयोगाधिकार समझना।

(३) किसी की वस्तु या स्वत्व का अपहरण न करना।

(४) सदैव कर्म करना और उन्हें निष्कामता को लक्ष्य में रखकर धर्म या कर्त्तव्य समझ कर करना।

(५) आत्मा के अनुकूल मन, वाणी और शरीर से आचरण करना।

अनेजदेकं मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्वमर्षत्। तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दाधति॥ ४॥

वह ब्रह्म (अनेजत्) अचल, एक रस (एकम्) एक, (मनसो जवीयः) मन से अधिक वेगवाला, क्योंकि सब जगह (पूर्वम्) पहले से (अर्षत्) पहुंचा हुआ है। (एनम्) उस ब्रह्म को (देवाः) इन्द्रियाँ (नं आप्नुवन्) नहीं प्राप्त होतीं, अर्थात वह इन्द्रियों से, उन (इन्द्रियों) का विषय न होने के कारण, प्राप्त नहीं होता—(तत्) वह (तिष्ठत्) अचल होने पर भी (धावतः) दौड़ते हुए (अन्यान्) अन्यों को (अत्येति) उल्लंघन किये हुए है, (तस्मिन्) उसके भीतर (मातरिश्वा) वायु (अपः) जलों को (मेघादि के रूप में) (दधाति) धारण करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्ति के।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

(तत) वह ब्रह्म (एजति) गति देता है। (तत्) परन्तु स्वयं (न एजति) गति में नहीं आता (तत्) वह (दूरे) दूर है। (तत उ, अन्तिके) वह समीप भी है (तत) वह (अस्य, सर्वस्य, अन्तः बाह्यतः) इस सबके अन्दर और बाहर भी है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः तु) जो कोई (सर्वाणि) सम्पूर्ण (भूतानि) चराचर जगत् को (आत्मानि, एव) परमेश्वर ही में (अनुपश्यति) देखता है (च) और (सर्व) सम्पूर्ण (भूतेषु) चराचर जगत में (आत्मानम) परमेश्वर को देखता है (ततः) इससे वह (न विजुगुप्सते) निन्दित नहीं होता।

यस्मिन् सर्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।
तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन) जिस अवस्था में (विजानतः) विशेष ज्ञान प्राप्त (योगी की दृष्टि में) (सर्वाणि भूतानि) सम्पूर्ण चराचर जगत् (आत्मा एव) परमात्मा ही (अभूत)

हो जाते हैं (तत्र) उस अवस्था में ऐसे (एकत्वम अनु- पश्यतः) एकत्व को देखनेवाले को (कः मोहः) कहाँ मोह (कः शोक) और कहाँ शोक ?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरं शुद्धमपापविद्धम् । कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह ईश्वर (परि, अगात्) सर्वत्र व्यापक है (शुक्रम) जगदुत्पादक (अकायम्) शरीर रहित (अव्रणम्) शारीरिक विकार रहित (अस्नाविरम्) नाड़ी और नस के बन्धन से रहित (शुद्धम्) पवित्र (अपापविद्धम्) पाप से रहित (कविः) सूक्ष्मदर्शी (मनीषी) ज्ञानी (परिभूः) सर्वोपरि वर्तमान (स्वयम्भूः) स्वयंसिद्ध (शास्वतीभ्यः) अनादि (समाभ्यः) प्रजा (जीव) के लिए (यथातथ्यतः) ठीक ठीक (अर्थात्) कर्म-फल का (व्यदधात) विधान करता है ।

व्याख्यान

कर्त्तव्य-पञ्चक का विवरण दिया जा चुका है—उस विवरण में कहा गया था कि इन पाँच कर्त्तव्यों के पालन करने से मनुष्य ब्रह्म-विद्या में प्रवेशाधिकार प्राप्त कर लेता है । अब प्रश्न यह है कि वह ब्रह्म-विद्या क्या है जिसमें प्रवेश की इच्छा, कम-से-कम आस्तिक जगत् को रहती है ।

जिस विद्या में ब्रह्म का वर्णन हो, वह ब्रह्म-विद्या कही जाती है। ब्रह्म का वर्णन उसके गुणों द्वारा होता है, और गुण उसके वर्णनातीत है। फिर उसके समस्त गुणों का ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? यह प्रश्न है, जो सदैव ब्रह्म-विद्या के विद्यार्थी को चक्कर में डाल देता है। परन्तु उपनिषदों में इसका अच्छा खासा समाधान मिलता है। जब हम कहते हैं कि हम ब्रह्म-विद्या को प्राप्त करना चाहते हैं, तो विचारणीय यह है कि इस ब्रह्म-विद्या के प्राप्त करने से हमारा उद्देश्य क्या है ? हमारा उद्देश्य कदापि यह नहीं हो सकता कि हम ब्रह्म की नाप-तोल करना चाहते हैं; अपितु एक मात्र उद्देश्य यह होता और होसकता है कि हम अपनी उन्नति करें और उस उन्नति की चरम सीमा यह हो कि ब्रह्म को प्राप्त कर लें, बस इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए जिन साधनों की अपेक्षा है, उसको प्राप्त करना चाहिये। यदि ब्रह्म के केवल १० गुणों के जानने से हमारा उद्देश्य पूरा हो सकता है, तो ग्यारहवें गुण के जानने के लिए श्रम करना अनावश्यक है। इसीलिए उपनिषदों ने ब्रह्म के केवल उन्हीं गुणों के जान लेने की शिक्षा दी है, जो मनुष्य को उन्नति-पथ पर पहुँचा देने के लिए पर्याप्त हैं—

सबसे पहली शिक्षा ब्रह्म के सम्बन्ध में यह है कि तुम उसे व्यक्ति-रूप में न मानकर समष्टि रूप में मानो, अर्थात् वह विभु हैं—परिच्छिन्न नहीं। सर्वदेशी है- एकदेशी

नहीं, इस बात का मनवाना उपनिषद् ने इतना अधिक आवश्यक समझा है कि इसको अनेक रीति से वर्णन किया है।

हम उसका यहाँ थोड़ा-सा विवरण देते हैं।

उपनिषद् ने बतलाया कि तुम उसे "अनेजत्" (एक-रस) समझो। विचार करके देखलो कि 'एकरस' सदैव सर्वदेशी ब्रह्म ही हो सकता है। फिर उपनिषद् ने इसी भाव को प्रदर्शित करने के लिए ब्रह्म के निम्न गुणों का वर्णन किया है—

(१) वह मन से भी अधिक वेगवाला है, क्योंकि प्रत्येक जगह (पूर्वमषत्) पहले ही से पहुँचा हुआ रहता है, इसीलिए सर्व देशी है।

(२) इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ, एकदेशी वस्तु ही का ज्ञान प्राप्त कर सकती हैं।

(३) वह (सर्वदेशी होने से) ठहरा हुआ ही, अन्य दौड़ते हुओं का, उल्लङ्घन किये हुए हैं।

(४) उसी (ब्रह्म) के अन्तर्गत वायु जलों को (बादल के रूप में) धारण किये हुए रहता है। जगत का कोई भाग ऐसा नहीं है कि जहाँ वायु न हो। जहाँ कहीं स्पष्ट रूप में वायु नहीं होता, वहां आकाश (Ether) होता है। इस प्रकार से जगद्व्यापी वायु उसी ब्रह्म के अन्तर्गत अपना कार्य करता है।

(५) वह गति देता है, परन्तु स्वयं गति में नहीं आता। ब्रह्म का सृष्टिकर्तृत्व केवल इतने ही से प्रारम्भ होकर पूर्णता प्राप्त कर लेता है कि वह उस समय जब प्रलय के बाद जगत् उत्पन्न होता है और प्रकृति विकृति होना चाहती है, तो इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह शांत और स्तब्ध प्रकृति में एक गति का सञ्चार करता है, जिससे प्रकृति की शान्ति और स्तब्धता भङ्ग होकर क्रमशः सूक्ष्म और स्थूल भूतों की उत्पत्ति होकर, प्रलय, सृष्टि रूप में, परिवर्तित होजाती है। इसी गति को विज्ञान में गति-शक्ति (Energy) नाम दिया गया है। पञ्चभूत, प्रकृति और ब्रह्मप्रदत्त गति के संघात का,नाम है "Matter combined with Energy."। यहाँ एक शङ्का उत्पन्न हुआ करती है कि गति के देने के लिए गतिदाता से पृथक कुछ आकाश (Space) होना चाहिये, तभी तो वह गति दे सकता है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। ब्रह्म को उस गति के देने के लिए किसी प्रकार की हरकत करने की ज़रूरत नहीं होती, और न उसमें हरकत होती है, क्योंकि वह एकदेशी नहीं सर्वदेशी है। यह गति जो प्रकृति में एक आलमगीर हलचल पैदा कर देती है, ब्रह्म के केवल ईक्षण (प्राप्त वस्तु को कार्य में लगाने की इच्छा) मात्र से, बिना किसी हरकत के उत्पन्न हो जाती है। पश्चिमी वैज्ञानिक भी, इच्छा से गति होने के सिद्धान्त को "Will Preceeds motion" कहकर,

समर्थन करते हैं। अतः स्पष्ट है कि ब्रह्म इस प्रकार गति दाता होने पर भी स्वयं गति में नहीं आता। यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने भी उपनिषद् के इस सिद्धान्त की पुष्टि की है।*

(६) वही दूर है वही समीप है—वही सब के भीतर और वही सब के बाहर है—अर्थात् सब जगह है।

(७) जो मनुष्य सम्पूर्ण भूतों (चराचर जगत्) को उस ब्रह्म के अन्दर और ब्रह्म को उन सम्पूर्ण भूतों के अन्दर देखता है, वह घृणा-रहित हो जाता है—इसी का नाम विश्व-प्रेम है, जो उपनिषद् की पहली ही शिक्षा के अन्तर्गत है और जिसे ब्रह्म-विद्या का पहला ही पाठ कहना चाहिये।

(८) वह ब्रह्म सर्वत्र पहुंचा हुआ है और शरीर-रहित, फोड़े-फुन्सी के विकारों से पाक; और नाड़ी नस के बन्धन से भी पृथक् है और सर्वव्यापक है।

इस प्रकार हमने देख लिया कि नौ प्रकार से वर्णन करके उपनिषद् ने इस शिक्षा को कि ब्रह्म सर्वदेशी है।

---

*God is merely the source of movement, the Frist Mover (आदिकारण) Who himself is never moved.

(THE AGE OF ARISTOTLE, P. 46)

अरस्तु ने आम तौर से ईश्वर को unmoved mover कहा है।

अधिक-से-अधिक स्पष्ट किया है। यह ब्रह्म का पहला गुण है, जो ब्रह्म विद्या के विद्यार्थी के हृदय में सबसे पहले अङ्कित हो जाना चाहिये। विना इसको समझे, बिना इस पर श्रद्धा और विश्वास किये, हम ब्रह्म-विद्या के स्वच्छ और उन्नत पथ की ओर क़दम भी नहीं बढ़ा सकते।

[२] ब्रह्म का दूसरा गुण एकत्व है, अर्थात् ब्रह्म एक ही है दूसरा, तीसरा, चौथा आदि नहीं, इसका उपासक को दृढ़ विश्वास होना चाहिये।

[३] ब्रह्म का तीसरा गुण शुक्रम अर्थात् जगत् का आदि मूल कारण होना है।

[४] चौथा शुद्धम् गुण है, अर्थात् ब्रह्म की शुद्धता को लक्ष्य में रखते हुए ब्रह्म की समीपता प्राप्त करने के लिए उपासक को जल से शरीर, सत्य से मन, विद्या और तप से आत्मा, और निर्मल ज्ञान से बुद्धि को शुद्ध करना चाहिये, तभी वह ब्रह्म विद्या का विद्यार्थी बन सकता है।

[५] पाँचवाँ गुण अपापविद्धम् है। मनुष्य को भी निष्पाप बनने के लिए पाप के मूल विपरीत (मिथ्या) ज्ञान का बहिष्कार करना चाहिये।

[६] कवि छटा गुण ब्रह्म का है। कवि, क्रान्तदर्शी, सर्वद्रष्टा तथा सर्वज्ञ को कहते हैं।

[७] मनीषी, ब्रह्म का सातवां गुण है, जो ब्रह्म के पूर्ण ज्ञानी होने की घोषणा करता है।

[८] 'स्वयम्भू' गुण प्रकट करता है कि ब्रह्म अपनी सत्ता से आप स्थिर (क़ायमबिज़्ज़ात) है। किसी का मुहताज नहीं।

[९] 'फलदाता' गुण अर्थात् ब्रह्म अपनी अनादि प्रजा जीव के 'कर्मों के फलों का 'याथातथ्यतः' ठीक-ठीक विधान किया करता है। कर्म का फल न्यून या अधिक नहीं हो सकता।

बस उपनिषदों ने मनुष्यों के लिए इन्हीं नौ गुणों का जान लेना और उनको अपने अन्तःकरण में धारण कर लेना, अन्तिम उद्देश्य की प्राप्ति तक के लिए, पर्याप्त बतलाया है। ब्रह्म को हम किस प्रकार अपने हृदय में धारण करें, अथवा यों कहिये कि हम किस प्रकार अपने आत्मा को उन्नत करें, इसके लिए उपासक को इन गुणों का, मानसिक जप, करना होगा। केवल मुँह से किसी शब्द का रटन जप नहीं है, किन्तु हृदय से उस शब्द के अर्थ का चिन्तन, जप का उत्तरार्द्ध और जप का मुख्य और आवश्यक अङ्ग है।❀ आत्मा की उन्नति या ब्रह्म प्राप्ति के उद्योग का प्रारम्भ इसी जप से होता है। इस जप से उपासक का आत्मा ईश्वरीय गुणों से भासित होता है, और उसमें गुण-वृद्धि हुआ करती है। इसी को उपासना का पहला अङ्ग भी कहते हैं। उपासना का दूसरा और अन्तिम अङ्ग ब्रह्म को

❀ तज्जपस्तदर्थ भावनम् (योगदर्शन)

हृदय में धारण कर लेना है। पहले अङ्ग में जहाँ 'वाचक' को समझते हुए हृदय में रखा जाता है, दूसरे अङ्ग में हृदय को वाच्य का मन्दिर बनाना पड़ता है, अर्थात् वाच्य को, हृदय (आत्मा) में रखा जाता है। ब्रह्म-विद्या के पहले अङ्ग की प्राप्ति के उद्योग का सूत्रपात सन्ध्या से किया जाता है, और दूसरे अङ्ग की पूर्ति अष्टाङ्ग योग के अन्तिम अंगों से होती है, सन्ध्या को भी सन्ध्या योग इसी लिए कहते हैं। सन्ध्या से उपासकों को निम्न योग्यता प्राप्त कर लेना चाहिये :—

(१) शारीरिक उन्नति अर्थात् समस्त इन्द्रिय बलवान् पवित्र और यशवाली होनी चाहियें।

(२) मानसिक उन्नति अर्थात् हृदय द्वेष से रहित होना चाहिये और प्राणायामादि के द्वारा उसमें प्रत्याहार की प्राप्ति की योग्यता उत्पन्न हो जानी चाहिये।

(३) आत्मिक उन्नति, इसके लिए उपासना के प्रथम अङ्ग, वाचक के हृदय में धारण करने का अभ्यास करना चाहिये।

इतना कार्य सन्ध्या से हुआ करता है और इसी के लिए सन्ध्या की जाती है और करनी चाहिये। वाचक के हृदय में धारण करने का फल यह होता है कि मनुष्य का हृदय ईश्वरीय गुणों के आलोक से आलोकित हो उठता है, और उसमें विश्व-प्रेम का आभास पड़ने लगता है। जप

अत्यन्त आवश्यक वस्तु है। इससे स्मृति का भी विकास होता है। इस योग के इस सिद्धान्त को, पश्चिम के विद्वान् भी, स्वीकार करते हैं। इंगलैण्ड के प्रसिद्ध राजनैतिक ग्लेडस्टौन के लिए कहा जाता है कि इसने सम्पूर्ण होमर कृत इलियड को रट रखा था। जहाँ से कोई चाहे वह सुना सकता था, इसी से उसकी स्मृति बहुत उच्च कोटि की थी। परन्तु जप का अर्थ केवल Cat (बिल्ली) और Dog (कुत्ता) के अर्थों का रटना नहीं है। इसका तो उचित रीति से तिरस्कार किया जाता है, परन्तु वह जप, जिसका ऊपर विधान किया गया, चित्त के उन्नत करने का साधन और मुख्य साधन है।

ब्रह्म को किस प्रकार उपासक (योगी) हृदय में धारण कर सकता है, यह बात है जो ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है और यह पाठ उपनिषद् ने इस प्रकार दिया है कि "जिस अवस्था में समस्त चराचर जगत् को योगी परमेश्वर हुआ ही जानने लगता है, तब ऐसे एकत्व का देखनेवाला (योगी) मोह और शोक से छूट जाता है।" उपनिषद्-वाक्य एक अवस्था विशेष का संकेत करता है। वह अवस्था कौन सी है ? यही प्रश्न है, जिसपर विचार करना है। योग के अङ्गों में, प्राणायाम के पश्चात, पाँचवें अङ्ग से शरीर के भीतर, इष्ट परिवर्तनों के करने का विधान है। मनुष्य की शक्ति अन्तः और बाह्यकरणों में साधारणतया

फैली हुई रहती है। और इसीलिए योगी के सिवा कोई मनुष्य अपनी पूर्ण शक्ति को किसी काम में नहीं लगा सकता। जब योगी अपनी समस्त शक्तियों को भीतर एकत्रित करना चाहता है, तब यह उद्देश्य प्रत्याहार के अभ्यासों द्वारा पूरा किया जाता है। प्रत्याहार समस्त शक्ति के केन्द्रित करने की कार्य-प्रणाली ही का नाम है। उस समस्त (प्रत्याहार द्वारा) एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर लगा देने का नाम धारणा है। और उसी एकत्रित शक्ति को किसी एक स्थान पर न लगा कर आत्मा में लगा देने का नाम ध्यान है। और इसी की उच्चावस्था को समाधि कहते हैं। इस प्रकार समस्त शक्ति को आत्मा में लगा देने को ध्यान कहा गया है परन्तु योगी आत्मा में शक्तियों के लगाने का कोई साक्षात् यत्न नहीं कर सकता। हाँ, इस कार्य की पूर्ति असाक्षात् यत्नों से हुआ करती है अर्थात् कोई भी अपनी शक्तियों को साक्षात् यत्नों से आत्मा के अन्दर लगा नहीं सकता, परन्तु विशेष अवस्था के उत्पन्न कर लेने से वह शक्ति स्वयमेव आत्मा में लग जाया करती हैं। उसी असाक्षात् यत्न का नाम ध्यान है। ध्यान के समझने में आम तौर से ग़लती की जाया करती है—निराकार ईश्वर के ध्यान की बात आते ही लोग कहने लगते हैं कि जिसकी कोई शक्ल नहीं, सूरत नहीं, रूप नहीं, भला किस प्रकार कोई उसका ध्यान

कर सकता है ? ऐसे पुरुषों के मतानुसार, ध्यान किसी बाह्य रूप-रङ्गवाली वस्तु के भीतर हृदय में लाने का नाम है, परन्तु बात इसके सर्वथा विपरीत है—ध्यान बाहर से किसी वस्तु के भीतर लाने को नहीं कहते, किन्तु भीतर (हृदय में) जो कुछ भी हो, उस सबको निकालकर बाहर फेंक देने का नाम ध्यान है। इसीलिए सांख्य के आचार्य कपिल ने कहा है:—

"ध्यानं निर्विषयं मनः।"

अर्थात्—सांख्य की परिभाषानुसार ध्यान मन के निर्विषय करने को कहते हैं। मन के निर्विषय करने का अर्थ यह है कि मन का इन्द्रियों से काम लेना—जिससे जागृतावस्था बना करती है—छूट जाय, तथा मन का अपने भीतर काम करना भी—जिससे स्वप्नावस्था निर्मित होती है—बन्द हो जावे।

इसका तात्पर्य यह है कि जागृतावस्था ही में योगी अपनी वह अवस्था बना ले जो सुषुप्ति में हुआ करती है और जिसमें मन पूर्ण रीति से निष्क्रिय (निर्विषय) हुआ करता है। आत्मा की दो प्रकार की शक्तियाँ हैं, एक वह जो सूक्ष्म और स्थूल शरीर के द्वारा जगत् में काम करती हैं, और जिसे आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति कहते हैं। दूसरी वह जो आत्मा के अन्दर काम करती है और

जिसका नाम अन्तर्मुखी वृत्ति है। दोनों वृत्तियों में से एक-न-एक वृत्ति प्रत्येक समय काम किया करती है; न दोनों वृत्तियाँ एक साथ काम करती हैं, और न दोनों एक साथ बन्द हो जाती हैं। यदि एक वृत्ति बन्द कर दी जावे, तो दूसरी स्वयंमेव काम करने लगती है।

बहिर्मुखी वृत्ति के बन्द करने का नाम ही मन का निर्विषय करना है। मन के निर्विषय होने के साधन ध्यान के अभ्यास हैं। इस प्रकार मन के निर्विषय हो जाने मात्र से आत्मा की बहिर्मुखी वृत्ति बन्द होकर, अन्तर्मुखी वृत्ति स्वयंमेव जारी हो जाती है। जिस प्रकार नहर का फाटक बन्द कर देने से समस्त जल, स्वयमेव नदी की धारा में प्रवाहित होने लगता है, और इस अन्तिम कार्य के लिये किसी प्रकार का यत्न अपेक्षित नहीं होता, इसी प्रकार नहर रूपी बाह्य वृत्ति के बन्द होने से आत्म-रूपी नदी में अन्तर्मुखी वृत्ति रूप जल स्वयमेव प्रवाहित हो जाता है।

यही वह अवस्था है, जिसका उपर्युक्त मन्त्र में उल्लेख है। इस अवस्था को प्राप्त कर लेने ही से योगी एकत्वदर्शी हो जाता है। ध्यान की अवस्था में ध्यानावस्थित योगी समझता है कि वह ध्याता है और किसी ध्येय की प्राप्ति के लिए ध्यान रूपी क्रियाएँ करता है। परन्तु जब और ऊँची समाधि अवस्था में पहुँचता है, तब ध्याता और ध्यान दोनों का ज्ञान तिरोहित हो जाता है, और केवल

ध्येय (ईश्वर) ही उसके समस्त ज्ञान का लक्ष्य रह जाता है और उस समय योगी की वही अवस्था होती है, जिसके लिये मुंडकोपनिषद् में कहा गया है:—

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण। अधश्चोर्ध्वञ्च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥ मु० २।२।११ ॥

अर्थात् (इदम्, अमृतम्) यह अमृत रूप (ब्रह्म, एव) ब्रह्म ही है (पुरस्ताद्ब्रह्म) आगे ब्रह्म है (पश्चात्, ब्रह्म) पीछे ब्रह्म है (दक्षिणतः) दाहिने (च) और (उत्तरेण) बाएँ (अधः) नीचे (च) और (ऊर्ध्वम्) ऊपर भी (प्रसृतम्) फैला हुआ ब्रह्म ही है (इदम्, विश्वम्) यह सब (इदम्, वरिष्ठम्) यह अत्यन्त श्रेष्ठ (ब्रह्म एव) ब्रह्म ही है। भाव इसका यह है कि उस ज्ञानी को सब ओर ब्रह्म ही ब्रह्म दिखाई देता है। इसी अवस्था के लिए एक कवि ने कहा है—

"जिधर देखता हूं उधर तू ही तू है।"

उपनिषद् के इसी भाव को कुछेक अन्य कवियों ने भी, बड़ी सुन्दरता से, अपनी कविताओं में समाविष्ट किया है—

दिया अपनी ख़ुदी* को जो हमने मिटा,
वह जो परदा-सा बीच में था, न रहा।

---

* ख़ुदी = अहंकार।

रही परदे में अब न वो परदे-नशीं,
कोई दूसरा उसके सिवा न रहा ॥ १ ॥

* * * *

आप ही आप हैं याँ, ग़ैर का कुछ काम नहीं।
ज़ाते मुतलक़१ में तिरे, शक्ल नहीं नाम नहीं ॥
चुनाँ पुर शुद फ़िज़ाये सीना अज़ दोस्त।
ख़्याले ख़ेश गुम शुद अज़ ज़मीरम२ ॥
बेख़ुदी३ छा जाय ऐसी, दिल से मिट जाय ख़ुदी।
उनके मिलने का तरीक़ा अपने खोजाने में है ॥
जब मैं४ थी तब हर नहीं जब हर तब मैं नांय।
प्रेम-गली अति सांकरीं जा में दो न समाय ॥

* * * *

समस्त चराचर जगत् में योगी ब्रह्म के सिवाय कुछ नहीं देखता। जब उसने अपने प्रेम-पात्र के प्रेम के आधिक्य में अपनी ही सुध-बुध बिसार दी है, तब प्रकृति के ईंट, पत्थरों की उसे किस प्रकार चिन्ता रह सकती है और वह कैसे मोह, शोक के बन्धन में रह सकता है? यही ब्रह्म-विद्या का अन्तिम पाठ है, जिसमें जीव अपनी सत्ता क़ायम रखते हुए भी, उससे बेसुध-सा, रहता है, और ध्येय (ब्रह्म) के

---

१ ज़ातेमुतलक़=ईश्वर की असीम सत्ता।
२ मेरा हृदय अपने प्रेम-पात्र के प्रेम से इतना भर गया कि अब उसमें अपनी स्मृति भी बाक़ी नहीं रही।
३ बेख़ुदी=निरहंकारता।
४ मैं=मेरे तेरे मन का भाव ममता।

सिवा कुछ भी उसकी स्मृति, ध्यान या अनुभव का विषय नहीं रह जाता। इसी अवस्था के प्राप्त कर लेने पर योगी का नाम जीवन्मुक्त हो जाता है और इसी अवस्थावाले शरीर के छूटने पर योगी आवागवन के बन्धन से मुक्त हो जाता है। इसी अवस्था पर पहुचे हुए योगी के लिए उपनिषद् में कहा गया है, "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति।" (मुंडकोपनिषद् ३।२।६) अर्थात् वह जो, इस परब्रह्म को जान लेता है, ब्रह्म ही हो जाता है। कई विद्वान् इसका अर्थ करते हुए कह दिया करते हैं कि ब्रह्म-वित ब्रह्म के सदृश हो जाता है। परन्तु इस प्रकार के अर्थ करने की जरूरत नहीं—इस वाक्य में प्रयुक्त 'भवति' क्रिया से स्पष्ट है कि ब्रह्मवित पहले ब्रह्म नहीं था, अब हुआ है तो वह सादी ब्रह्म हुआ, परन्तु जिस ब्रह्म के जानने से वह ब्रह्मबित हुआ है, वह अनादि ब्रह्म है। यह अन्तर सदैव ब्रह्म और ब्रह्मवित में बना रहता है:—

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायांᳫ रताः ॥ ९ ॥

भाषार्थ--(ये) जो (अविद्याम्) कर्म का (ज्ञान की उपेक्षा करके, सेवन करते हैं (अन्धतमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं—(य उ,) और जो (कर्म की उपेक्षा करके केवल) (विद्यायाम) ज्ञान में (रताः) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्यायाऽन्यदाहुर विद्याया ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १० ॥

भाषार्थ—(विद्याया) ज्ञान का (अन्यत, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं (अविद्याया) और कर्म का (अन्यत्, एव) और ही फल (आहः) कहते हैं (इति ऐसा हम (धीराणाम) धीर पुरुषों से वचन (शुश्रुम) सुनते हैं। (ये) जो (नः) हमारे लिए (तत्) वचनों का (विचचक्षिरे) उपदेश करते हैं।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृमश्नुते ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (विद्याम्, च, अविद्याम च) ज्ञान और कर्म (तत्, उभयम्) इन दोनों को (सह) साथ साथ (वेद) जानता है वह (अविद्यया) कर्म से (मृत्युं) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (विद्यया) ज्ञान से (अमृतम) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों में विद्या और अविद्या का महत्व-पूर्ण सिद्धान्त, वर्णन किया गया है। यहीं से उपनिषद् का तीसरा भाग प्रारम्भ होता है, जिसमें मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान किया गया है। विद्या ज्ञान को कहते हैं, यह तो निर्विवाद ही है। अविद्या के दो अर्थ किये जाते हैं, एक पारिभाषिक

दूसरा यौगिक। दर्शनों में प्रायः पारिभाषिक अर्थ, मिथ्या ज्ञान के, लिए जाते हैं। परन्तु यौगिक अर्थ अविद्या के 'विद्या से भिन्न' के हैं। (अ+विद्या) जो विद्या अर्थात् ज्ञान नहीं है। जो ज्ञान नहीं, वह है क्या? इस प्रश्न का उत्तर इन मन्त्रों का देवता (मन्त्र का विषय) देता है। इन मन्त्रों का देवता आत्मा है। आत्मा के स्वाभाविक गुण ज्ञान और कर्म ही है। इच्छा, द्वेषादि चार गुण नैमित्तिक हैं, और शरीर के निमित्त से आत्मा में आये समझे जाते हैं। शरीर की बनावट भी आत्मा के स्वाभाविक गुणों की साक्षी है। शरीर में दो ही प्रकार की इन्द्रियाँ हैं—ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय—ज्ञानेन्द्रिय ज्ञान और कर्मेन्द्रिय आत्मा के कर्म-गुण के सार्थक करने के लिए हैं। यदि तीसरा कोई स्वाभाविक गुण और होता, तो शरीर में तीसरे प्रकार का इन्द्रिय-समुदाय भी और, उस गुण के साधन-रूप होने के लिए, बना हुआ, दृष्टि-गोचर होता। अतः आत्मा के स्वाभाविक के गुण, ज्ञान और कर्म दो ही हैं। विद्या ज्ञान को कहते हैं, जैसा कि कहा जा चुका है, और ज्ञान से भिन्न का नाम मन्त्र में अविद्या प्रयुक्त हुआ है। ज्ञान से भिन्न कर्म ही है। इसलिए स्पष्ट होगया कि अविद्या का यौगिक अर्थ कर्म है। अब इन मन्त्रों का अर्थ भी साफ होगया कि केवल ज्ञान या केवल कर्म का सेवन करना अन्धकार में पड़ना है। सिद्धान्त यह है कि ज्ञान और कर्म दोनों का प्रयोग साथ-

साथ करना चाहिये। वेदों का यह सार्वजनिक सिद्धान्त है, जो तीनों कालों में एक जैसी उपयोगिता रखता है। ज्ञान उपलब्ध करके उसको कार्य में परिणत करना ही मनुष्य-जीवन का सब से बड़ा उद्देश्य है। इसीलिए वेद नित्योपयोगी (Up-to-date) समझे जाते हैं।

मन्त्र की विशेषता

इन मन्त्रों की एक विशेषता है, और यही विशेषता वेदों की महत्ता की द्योतक है। वह विशेषता यह है कि अन्तिम मन्त्र में ज्ञान और कर्म का उद्देश्य वर्णन कर दिया गया है, और यह, उद्देश्य सब से बड़े बन्धन—मृत्यु के बन्धन—से पार होकर अमरता का प्राप्त करना है। आधुनिक कर्म और ज्ञान और वेदों के कर्म और ज्ञान में यही बड़ा विभेदक अन्तर है। आधुनिक ज्ञान और कर्म-साइन्स (Science) और आर्ट (Art) हैं। इन्साइक्लोपीड़िया ब्रिटानिया (Encyclopaedia Britannica) के शब्दों में (Seience consists in knowiug) और (Art consists in doing) अर्थात् साइन्स ज्ञान और आर्ट कर्म ही का नाम है।

आधुनिक ज्ञान और कर्म उद्देश्य रहित हैं

अर्थात् इन ज्ञान और कर्म का कोई उद्देश्य नहीं है। इसलिए ये मृत्यु के बन्धन को छुड़ाने की जगह उस बन्धन

को और भी दृढ़ करने के काम में लगे हुए हैं। इस समय साइन्स के एक बड़े और महत्वपूर्ण विभाग का कार्य, युद्ध से सम्बन्धित (Chemical Warfare Service), केवल यह है कि नई-नई ज़हरीली गैसों की खोज और ईजाद करे। टी० ए० एडीसन (T. A. Edison) महाशय, जो वर्त्तमान काल के उच्च कोटि के वैज्ञानिकों में समझे जाते हैं, लिखते हैं, कि एक जहरीली गैस—जो अमरीका में बनायी गयी थी, और जिसे जर्मन और जापानी वैज्ञानिकों ने परिष्कृत किया है—ऐसी घातक है कि यदि वह एक छोटे हवाई जहाज़ के बेड़े से लण्डन नगर पर, जो पृथ्वी का सब से बड़ा नगर है और जिसकी आबादी ८० लाख के लगभग है—छोड़ी जावे तो तीन घण्टे में उसे नष्ट कर देगी। अमेरिका की १९१८--२० तक की उपर्युक्त विभाग की रिपोर्ट में यह बात स्पष्ट रीति से वर्णित है कि, यह जहरीली गैसें अमेरिका में ८१० टन, इङ्गलैण्ड में ४१० टन और जर्मनी में २१० टन प्रति सप्ताह तैयार होती हैं। ये सब गैसें इसी लिए जमा की जा रही हैं कि भावी, अनिवार्य युद्ध में शीघ्र-से-शीघ्र, अधिक-से-अधिक, मनुष्यों का संहार किया जा सके। अस्तु, हमने देख लिया कि उद्देश्य रहित होने से, आधुनिक पश्चिमी जगत् के ज्ञान और कर्म, किस प्रकार प्राणियों के संहार करने में लगे हुए हैं, जब कि वेदों के ज्ञान और कर्म मनुष्यों को अमर बनाने का उत्कृष्टतम साधन हैं।

ज्ञान से कर्म की विशेषता

पहले मन्त्र में एक बात और भी है, जिस पर ध्यान देना चाहिये और वह बात यह है कि मन्त्र में कहा गया है कि जो केवल ज्ञान का सेवन करते हैं, वह उनसे अधिक अन्धकार में पड़ते हैं, जो केवल कर्म का आश्रय लेते हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान मात्र का कोई फल नहीं मिलता, परन्तु कर्म जितना भी करेगा, चाहे वह कितना ही उलटा-सीधा क्यों न हो, उसका कुछ-न-कुछ फल अवश्य ही मिलता है। इसलिए उपनिषद् की शिक्षा में कर्म का बहुत ऊंचा स्थान है, यह बात कभी, किसी आध्यात्मिक विद्या के विद्यार्थी को, भूलनी नहीं चाहिये। यहीं से गीताकार ने, कर्मयोग की शिक्षा ली है।

मनुष्य के पहले कर्त्तव्य का विधान विद्या-अविद्या-सम्बन्धी तीन मन्त्रों में कर दिया गया। इस कर्म और ज्ञान का क्षेत्र क्या होना चाहिये? इसका वर्णन आगे के तीन मन्त्रों में किया गया है। इन मन्त्रों का भाव समझना और उनमें वर्णित शिक्षानुकूल आचरण करना मनुष्य का दूसरा कर्त्तव्य है। इन दो कर्त्तव्यों से भिन्न मनुष्य-जीवन का, और कोई भी ऐसा कर्त्तव्य, जो उसके कल्याण के लिए अपेक्षित हो, बाक़ी नहीं रहता। इन्हीं में सबका समावेश है। दूसरे कर्त्तव्य के विधायक तीन मन्त्र ये हैं:—

अन्धतमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (असम्भूतिम्) कारण प्रकृति=कारण शरीर को (अन्य शरीरों की उपेक्षा करके) सेवन करते हैं, वे (अन्धतमः) गहरे अन्धकार में (प्रविशन्ति) प्रवेश करते हैं (य, उ) और जो (सम्भूत्याम्) कार्य्य प्रकृति=सूक्ष्म शरीर+स्थूल शरीर में (कारण शरीर की उपेक्षा करके) रमते हैं (ते) वे (ततः) उससे (भूय, इव) भी अधिक (तमः) अन्धकार को प्राप्त होते हैं ।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्याहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सम्भवात्) कार्य्य प्रकृति=सूक्ष्म+स्थूल शरीर (अन्यत, एव) और ही फल (आहु) कहते हैं (असम्भवात्) और कारण प्रकृति=कारण शरीर से (अन्यत, एव) और ही फल (आहुः) कहते हैं—(इति) इस प्रकार (धीराणाम्) धीर पुरुषों के वचन (शुश्रुम) हम सुनते हैं (ये) जो (नः) हमारे लिए (तत्) उन वचनों का (विचचक्षिरे) उपदेश कर गये हैं ।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्याऽमृतमश्नुते ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (सम्भूतिम्) कार्य रूप प्रकृति=सूक्ष्म+स्थूल शरीर (च) और (विनाशम्) कारण रूप प्रकृति=कारण शरीर (तत्+उभयम्) उन दोनों को (सह) साथ साथ (वेद) जानता है, वह (विनाशेन) कारण शरीर से (मृत्युम्) मृत्यु को (तीर्त्वा) तैर कर (सम्भूत्या) कार्य्य शरीर से (अमृतम्) अमरता को (अश्नुते) प्राप्त होता है।

व्याख्या

इन मन्त्रों का मुख्य विषय सम्भूति और असम्भूति का ज्ञान है। सम्भूति कार्य-प्रकृति और असम्भूति कारण रूप प्रकृति को कहते हैं। परन्तु ये असम्भूति और सम्भूति शब्द जब आत्मा से सम्बन्धित होते हैं, तब इनके अर्थ कारण और कार्य शरीर होते हैं। कारण शरीर की कल्पना, घटाकाश मठाकाशवत, है। जगत् में व्यापक कारण रूप प्रकृति का जो अंश हमारे अन्दर है उसी का कल्पित नाम कारण शरीर है—कार्य शरीर दो हैं—सूक्ष्म और स्थूल—इन तीनों के काम पृथक्-पृथक् हैं—

[१] स्थूल शरीर—सूक्ष्म शरीर का साधन है। उसी के द्वारा, विषयमय जगत से, सूक्ष्म शरीर का सम्बन्ध होता है। स्थूल शरीर के विकसित और पुष्ट होने से शारीरिकोन्नति होती है। राममूर्ति और सेण्डो आदि इसके उदाहरण हैं।

[२] सूक्ष्म शरीर—१७ वस्तुओं के समुदाय का नाम है—

५ ज्ञानेन्द्रिय

५ सूक्ष्म विषय=तन्मात्रा [शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध]

५ प्राण [प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान]

१ मन

१ बुद्धि

योग १७

सूक्ष्म शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मानसिकोन्नति होती है। यही मानसिकोन्नति किये हुए पुरुष जाति के नेता, राजा और उच्च राज्य कर्मचारी हुआ करते हैं। और कारण शरीर के विकसित और पुष्ट होने से मनुष्य में ईश-प्रेम आता है और वह भक्त और योगी बना करता है। आशय यह है कि तीनों प्रकार के शरीर उन्नत होने चाहिये। शरीरों का इतना विवरण जान लेने से, इन मन्त्रों के अर्थ समझ लेने में, सुगमता हो जाती है। मंत्र कहता है कि यदि स्थूल और सूक्ष्म शरीरों की उपेक्षा करके केवल कारण शरीर की उन्नति चाहते हो तो अन्धकार में पड़ना पड़ेगा, क्योंकि बिना स्थूल और सूक्ष्म शरीरों के उन्नत हुए कारण शरीर की उन्नति प्राप्त नहीं हो सकती। और यदि कारण शरीर की उपेक्षा करके केवल कार्य शरीर=स्थूल+सूक्ष्म शरीरों को उन्नत करना

चाहते हो, तो भी भविष्य अन्धकारमय होगा, क्योंकि इससे नास्तिकता उत्पन्न होगी, जैसे चारवाक और योरुप के प्रकृतिवादी नास्तिक विद्वान। इसीलिए तीसरे मन्त्र में, सिद्धान्त और कर्त्तव्य रूप से, यह शिक्षा दी गयी है कि दोनों प्रकार के शरीरों की उन्नति, साथ-साथ होनी चाहिये तभी मृत्यु का बन्धन छूट सकता है। मृत्यु का बन्धन किस प्रकार छूट सकता है यही अन्तिम प्रश्न है, जो इन मंत्रों के सम्बन्ध में, उत्पन्न होता है। इस प्रश्न का उत्तर सुगमता से, समझ में आजावे इसलिए हम इन शरीरों का यहाँ एक कल्पित चित्र नीचे देते हैं।

तीन शरीरों का चित्र
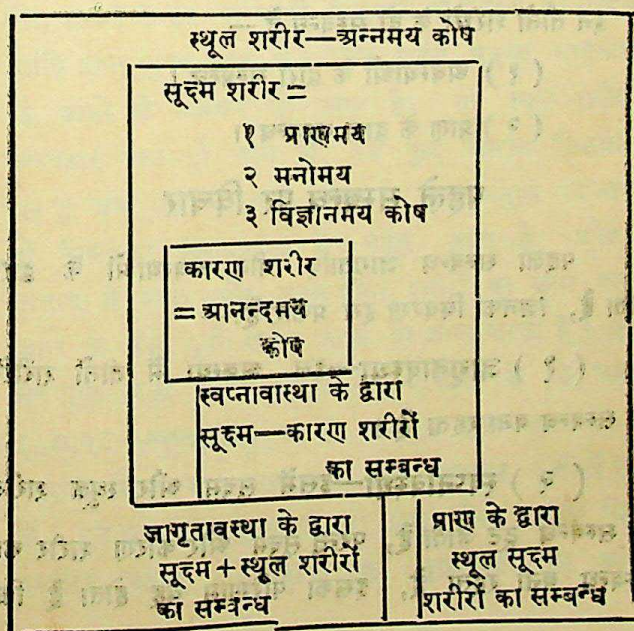
इन्हीं तीनों शरीरों का विभाग एक और प्रकार से किया गया है जिसे कोश कहते हैं। उसका विवरण इस प्रकार है—

(१) स्थूल शरीर—अन्नमय कोश।

(२) सूक्ष्म शरीर—१ प्राणमय, २ मनोमय, ३ विज्ञानमय कोश।

(३) कारण शरीर—आनन्दमय कोश।

योग—

३ शरीर—५ कोश

इन तीनों शरीरों के दो सम्बन्ध हैं—

(१) अवस्थाओं के द्वारा सम्बन्ध।

(२) प्राण के द्वारा सम्बन्ध।

पहले सम्बन्ध पर विचार

पहला सम्बन्ध जागृतादि तीन अवस्थाओं के द्वारा होता है, जिनका विवरण इस प्रकार है:—

(१) जागृतावस्था—इस अवस्था में तीनों शरीरों का सम्बन्ध बना रहता है।

(२) स्वप्नावस्था—इसमें सूक्ष्म और स्थूल शरीर का सम्बन्ध टूट जाता है, परन्तु सूक्ष्म और कारण शरीर का सम्बन्ध बना रहता है, इसका परिणाम यह होता है कि

इन्द्रियों का व्यापार तो बन्द हो जाता है, परन्तु मन का कार्य जारी रहता है, इसलिए मनुष्य इस अवस्था में स्वप्न देखा करता है।

(३) सुषुप्तावस्था—इस अवस्था में सूक्ष्म और कारण शरीरों का सम्बन्ध भी टूट जाता है, और तीनों शरीरों में से किसी दो का भी सम्बन्ध बाक़ी नहीं रहता।

इन अवस्थाओं और उनके सम्बन्ध के रहने, न रहने पर विचार करने से :एक परिणाम है, जिसपर प्रत्येक विचारक को पहुँचना पड़ता है, और वह परिणाम यह है कि, शरीरों के इन सम्बन्धों के टूटने से मनुष्य को सुख और शांति प्राप्त हुआ करती है। जिस समय मनुष्य जागृतावस्था के कामों से थककर सो जाता है, तो स्थूल शरीर का व्यवहार बन्द हो जाने से, उसे कुछ आराम मिलता है, परन्तु जब मन भी थक जाता है, तब मनुष्य स्वप्नावस्था से निकलकर सुषुप्तावस्था में पहुँच जाता है, और इस अवस्था में स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों का काम बन्द हो जाने से उसे पूर्ण शांति प्राप्त हो जाया करती है। इस से यह बात भली भाँति समझ में आ जाती है कि जब एक (जागृत—स्वप्नावस्था का) सम्बन्ध टूटा था तो कुछ आराम मिला था, परन्तु जब दोनों सम्बन्ध (तीनों शरीरों के) टूट गये, तो मनुष्य को पूरा सुख और आराम मिला। इसलिए विद्वान् सुषुप्तावस्था को मुक्तावस्था का आंशिक

उदाहरण रूप समझा करते हैं। निष्कर्ष यह निकला कि शरीरों के सम्बन्ध टूटने से सुख प्राप्त हुआ करता है।

दूसरे सम्बन्ध पर विचार

इस परिणाम पर पहुँचने के बाद अब दूसरे सम्बन्ध पर विचार कीजिये। दूसरा सम्बन्ध स्थूल और सूक्ष्म शरीर का, एक मात्र प्राण के द्वारा है, जिस सम्बन्ध के बने रहने का नाम जीवन और टूटने का नाम मृत्यु है। पहले सम्बन्ध पर विचार करते हुए, हमने देख लिया है कि सम्बन्धों के टूटने से, हमें सुख प्राप्त होता है, उसी परिणाम को लक्ष्य और उदाहरण में रखते हुए, दूसरे सम्बन्ध पर विचार करें, तो सुगमता से यह बात समझ में आजायगी कि यदि वह दूसरा सम्बन्ध भी टूट जावे, तो उसका परिणाम भी यही निकलेगा कि मनुष्य को सुख मिले। इस कल्पना के लिए कि इस दूसरे सम्बन्ध के टूटने से मनुष्य को दुःख होगा, संसार में कोई उदाहरण ही नहीं है। इसीलिए दूसरे सम्बन्ध का टूटना रूप मृत्यु दुखप्रद नहीं, अपितु सुखप्रद है। यही उच्च शिक्षा है, जो उपनिषद् दुनिया को देना चाहती है। इस परिणाम पर मनुष्य तभी पहुँच सकता है, जब वह इन तीन मंत्रों में वर्णित कारण और कार्य तीनों प्रकार के शरीरों को अपने पुरुषार्थ का क्षेत्र समझ कर पहले कर्त्तव्य का पालन करते हुए उनका यथार्थ ज्ञान प्राप्त

करे; और ज्ञान को कार्य में परिणत करे। उस यथार्थता की प्राप्ति के लिए प्राणायाम मुख्य साधन है, उससे कार्य शरीरों का पूरा-पूरा विकास हुआ करता है।

इसलिए उसका कुछ विवरण यहाँ दिया जाता है।*

प्राणायाम से शारीरिकोन्नति किस प्रकार होती है, इस बात के जानने के लिए एक दृष्टि, शरीर के अन्दर होनेवाले अनिच्छित कार्यों में से, हृदय और फेफड़ों के कार्यों पर, डालनी होगी।

हृदय का स्थूल कार्य्य

इस शरीर में दो प्रकार की अति सूक्ष्म नाड़ियाँ हैं। एक तो वे जो समस्त शरीर से हृदय में आती हैं, और दूसरी नाड़ियाँ वे हैं, जो हृदय से समस्त शरीर में जाया करती हैं। पहली नाड़ियाँ शिरा और दूसरी धमनियाँ कहलाती हैं। शिराओं का काम यह है कि समस्त शरीर से अशुद्ध रक्त शुद्ध होने के लिए हृदय में लाया करें। हृदय उस रक्त को शुद्ध करता है। रक्त अशुद्ध क्यों होता है, उसका हेतु यह है कि समस्त शरीर के व्यापारों में, इसका प्रयोग होता है। और प्रयोग में आने से अशुद्ध हो जाता है। उसमें कुछ

---

*प्राणायाम का विवरण यहाँ उदाहरण के तौर पर दिया गया है, जिससे समझ लिया जावे कि किस प्रकार शरीरों का ज्ञान प्राप्त करके उसे कार्य में परिणत करना चाहिये।

मैलापन आ जाता है। शुद्ध रक्त में ओषजन (Oxygen) काफ़ी मात्रा में रहता है, परन्तु काम में आने से जब यह अशुद्ध हो जाता है, तब उसमें ओषजन की मात्रा नाम-मात्र रह जाती है, और उसकी जगह एक विषैली वायु (Carbonic Acid Gas) रक्त में आ जाती है, और इसी परिवर्तन में रक्त का रङ्ग मैला स्याही माइल सा हो जाता है।

फेफड़े का काम

हृदय में जब अशुद्ध रक्त-शिराओं के द्वारा पहुँचता है, तो हृदय उसे फेफड़े में भेजता है। यहीं से फेफड़े का काम आरम्भ होता है। फेफड़ा स्पञ्ज की भांति असंख्य छोटे-छोटे कोशों (cells) का समुदाय है। वैज्ञानिकों ने हिसाब लगाया है कि एक शरीर में यदि लम्बाई-चौड़ाई में फेफड़ों के कोशों (घटकों) को फैला दिया जाय, तो उसका विस्तार चौदह सहस्र वर्गफ़ीट होगा। वे कोश, एक मांस पेशी (डायफ़्राम) की चाल से, खुलते और बन्द होते रहते हैं। जब यह कोश खुलते हैं तब एक ओर से तो हृदय से अशुद्ध रक्त और दूसरी ओर से श्वास के द्वारा लिया हुआ शुद्ध वायु, दोनों मिलकर उसे भर देते हैं। अब इन कोशों में इस प्रकार से अशुद्ध रक्त और शुद्ध वायु दोनों एकत्र हो गये हैं। प्रकृति का एक विलक्षण नियम यह है कि जिसमें जो वस्तु नहीं होती, वह उसी को दूसरे से अपनी ओर खींचती

है। रक्त में तो शुद्ध वायु ओषजन नहीं है। और श्वास के द्वारा लिए हुए वायु में कार्बन वायु नहीं है। इन दोनों में जब उपर्युक्त नियम काम करता है तब उसका परिणाम यह होता है कि रक्त में से कार्बन वायु निकलकर श्वास के वायु में और श्वास के द्वारा आये हुए वायु में से ओषजन निकल कर रक्त में चला जाता है। फल यह होता है कि रक्त इस प्रकार शुद्ध और श्वास के द्वारा आया हुआ वायु अशुद्ध हो जाता है। शुद्ध रक्त हृदय में जाकर धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में चला जाता है, और अशुद्ध वायु निश्वास द्वारा बाहर निकल आता है। यह कार्य प्रतिक्षण हुआ करता है।

हृदय की धड़कन

हृदय की धड़कन क्या वस्तु है? एक बार हृदय से रक्त का शुद्ध होने के लिए फेफड़े में जाना और फेफड़े से शुद्ध होकर रक्त का हृदय में वापिस आना बस इन्हीं दोनों क्रियाओं से हृदय में, धड़कन बनती है। औसतन एक मिनट में ७२ धड़कन एक प्रौढ़ पुरुष के हृदय में हुआ करती है। विशेष अवस्थाओं में आयु के अन्तर से धड़कन की मात्रा न्यूनाधिक हुआ करती है। आम तौर से एक सेकिण्ड से कम समय में एक बार रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता और शुद्ध होकर वापिस चला जाता है। एक शरीर वैज्ञा-

निक ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार २४ घण्टे में २५२ मन रक्त हृदय से फेफड़े में आता है, और इतना ही रक्त शुद्ध होकर फेफड़े से हृदय में वापिस चला जाता है। इस धड़कन से, आवाज 'लूब' 'डप' के उच्चारण जैसी होती है। जब हृदय संकुचित होकर रक्त निकलता है तब 'लूब' के सदृश ध्वनि होती है। और फैल कर जब रक्त ग्रहण करता है तब 'डप' शब्द की-सी ध्वनि होती है। इन दोनों ध्वनियों में समय का कुछ अन्तर अवश्य होता है, परन्तु इतना थोड़ा कि दोनों शब्द मिले हुए से ही मालूम होते हैं, और विशेषज्ञों के सिवाय साधारण लोग इस अन्तर को नहीं ख़याल कर सकते। अस्तु, अब विचारणीय बात यह है कि हृदय से रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़ों में जावे। परन्तु श्वास के द्वारा पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचे अथवा सब कोशों में जहाँ रक्त पहुँच चुका हो शुद्ध वायु न पहुँचे तो उसका परिणाम क्या होगा ? फेफड़े के मुख्यतया तीन भाग हैं—(१) एक ऊपरी भाग जो प्रायः गर्दन तक है। (२) मध्यभाग जो इधर-उधर हृदय के दोनों ओर है। (३) निम्न भाग जो डायफ्राम (मांसपेशी) के ऊपर दोनों ओर है। साधारण रीति से जो श्वास लिया जाता है वह पूर्ण श्वास नहीं होता, इसीलिए फेफड़े के सब भागों अथवा सब भागों के समस्त कोशों में नहीं पहुँचता। जब फेफड़े के ऊपरी भागों में श्वास द्वारा वायु नहीं पहुँचता, तो

फेफड़े का ऊपरी भाग रोगी होना शुरू होता है और उसके इस प्रकार त्रुटिपूर्ण हो जाने से एक रोग हो जाता है, जिसको "टयुबरक्योलोसिस" (Tuberculosis) कहते हैं और जब इसी प्रकार मध्य और निम्न भाग फेफड़ों के बेकार और त्रुटिपूर्ण होने लगते हैं तो उसके परिणाम में खाँसी, दमा, निमोनिया, जीर्णज्वरादि अनेक रोग, जो फेफड़ों से सम्बन्धित हैं, होने लगते हैं। इस प्रकार पर्याप्त वायु फेफड़े में न पहुँचने से जहाँ एक ओर फेफड़े से सम्बन्धित रोग उत्पन्न होते हैं तो—

'एक और भयंकर परिणाम'

दूसरी ओर उसका एक परिणाम यह भी होता है कि हृदय से जो रक्त शुद्ध होने के लिए फेफड़े में आता है वह बिना शुद्ध हुए अशुद्ध ही हृदय में वापिस चला जाता है। हृदय भी उसे रोक नहीं सकता। वहाँ से यह धमनियों के द्वारा समस्त शरीर में पहुँचता है। इसका फल रक्त-विकार होता है। रक्त के विकृत होने से मामूली रोग खाज (खुजली, खारिश) से लेकर भयङ्कर रोग कुष्ठ तक हो जाता है। इसलिए इन सब दुष्परिणामों से बचने के लिए आवश्यक है कि फेफड़े वायु से पूरित होते रहें और कोई कण (कोष) उसमें ऐसा न रहने पावे जहाँ वायु न पहुँच सके। यहीं से प्राणायाम की जरूरत शुरू होती है।

प्राणायाम की आवश्यकता

प्राणायाम के द्वारा मनुष्य के भीतर जब वह श्वास बाहर रोक देता है, तब श्वास लेने की प्रबल इच्छा उत्पन्न हो जाती है। उसका फल यह होता है कि, श्वास भीतर लेते समय श्वास वेग के साथ तेज हवा व आँधी के सदृश होकर फेफड़े में पहुँचता है, और जिस प्रकार आँधी वा तेज हवा नगर के कोने-कोने में प्रवेश करती है, इसी प्रकार वेग के साथ, श्वास के द्वारा भीतर लिया हुआ वायु, फेफड़े के एक-एक कोष तक पहुँच जाता है, और उससे न तो फेफड़े ही में कोई विकार होने पाता है, और न रक्त ही दूषित होने पाता है। अस्तु, देख लिया गया कि प्राणायाम शरीर की उन्नति का हेतु ही नहीं, किन्तु मुख्य हेतु है। इसलिए स्वस्थ रहने के लिए प्रत्येक नर-नारी के लिए आवश्यक है कि प्राणायाम किया करे। यह शारीरिकोन्नति का विवरण हुआ। इसी प्रकार इससे मानसिकोन्नति भी होती है। निदान दोनों प्रकार के कर्त्तव्य प्राणायाम से विशेष सम्बन्ध रखते हैं।

दोनों कर्त्तव्यों पर एक दृष्टि

उपर्युक्त छः मन्त्रों पर दृष्टिपात करने से, जिनमें दोनों कर्त्तव्यों का विधान है, एक और बात भी विचार में आती है और वह यह है कि इन दोनों कर्त्तव्यों को

सफलता के साथ-साथ पालन करने से मनुष्य मृत्यु के बन्धन से छूटता और अमरता प्राप्त करता है। परन्तु थोड़ा भी सोचने से यह बात समझ में आ जाती है कि मृत्यु के बन्धन का छूटना और अमरता प्राप्त करना— असल में दोनों का भाव एक ही है। इसलिए मन्त्रों का स्पष्ट भाव यह है कि मृत्यु के पार होना न केवल ज्ञान का परिणाम है, न केवल कर्म का, किन्तु ज्ञान और कर्म के समुच्चय ही से बन्धन छूटता है। परन्तु मुक्ति के दो पहलू होते हैं—एक मृत्यु से पार होना जिसे शान्ति या ऋणात्मक (Negative) आनन्द कहते हैं और दूसरी आनन्द प्राप्ति जिसे धनात्मक (Positive) आनन्द कहते हैं। इनमें से पहली बात मृत्यु के बन्धन के पार होना तो हमारे कर्म और ज्ञान का परिणाम हैं। परन्तु दूसरी बात धनात्मक आनन्द न हमारे कर्म का परिणाम है न ज्ञान का। फिर यह किस प्रकार प्राप्त होता है ? कठोपनिषद् इसका इसका उत्तर देती है। उपनिषद् का वह वाक्य यह है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते
तनूं स्वाम्।।कठ० १।२।२२॥

अर्थात् वह परमात्मा, प्रवचन, बुद्धि और बहुश्रुत होने से प्राप्त नहीं होता (फिर प्राप्त किस प्रकार होता

है उपनिषद् का उत्तर है कि जिसको वह स्वयं स्वीकार कर लेता है, उसीपर अपने को प्रकट कर देता है:—उपनिषद् के इस वाक्य से यह तो ज्ञात हुआ कि, वह आनन्दघन प्रभु अपनी दया ही से उपासकों को प्राप्त हुआ करता है, परन्तु वह किस प्रकार किसी को मिला करता है इसका उत्तर है कि जब मनुष्य कर्म और ज्ञान को उन्नत करके अपने को उसकी कृपा का पात्र बना लेते हैं, जैसा कि ऋग्वेद में कहा है कि "न ऋते श्रान्तस्य सखाय देवाः ॥" (ऋग्वेद ४ । ३३ । ११) अर्थात् मनुष्य यत्न करके जब तक अपने को थका नहीं डालता, तब तक ईश्वर के दया का पात्र नहीं बनता—उसका यत्न कर्म और ज्ञान को उत्कृष्ट बनाने से पूरा हुआ करता है । जब मनुष्य यह यत्न पूरा कर लिया करता है, तभी उसे वह प्राप्त हो जाया करता है। जिस प्रकार एक छोटा बालक जो अभी केवल घुटनों के बल चलता है, खड़ी हुई माता के चरणों तक पहुँच गया, परन्तु इतने से उसकी भूख निवृत नहीं होती जब बालक अपना यत्न समाप्त करके आशा-भरी दृष्टि से माता की ओर निहारता है, तो माता के हृदय में दया के भाव जागृत हो जाते हैं, और वह उसे गोद में उठाकर दूध पिलाकर शान्त कर देती है। इसी प्रकार मुमुक्षु जब अपने उन्नत कर्म और ज्ञान से मृत्यु के पार हो जाता है, तभी प्रभु दया करके उसे प्राप्त होकर आनन्द रूपी दुग्ध

का पान कराके कृतकृत्य कर दिया करते हैं। अस्तु, यहाँ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि—

ईश्वरोपासना के दो भेद हैं

(१) सगुणोपासना, (२) निर्गुणोपासना।

इनमें से सगुणोपासना वह है, जिसमें ईश्वर की सगुणता के साथ कि वह न्यायकारी है, दयालु है, आनन्दस्वरूप है, इत्यादि—हृदय में धारणा की जाती है और दूसरी निर्गुणोपासना वह है जिसमें ईश्वर को, निर्गुणता, के साथ कि वह अजर है, अमर है, अनादि है, अनन्त है इत्यादि, हृदय में धारण की जाती है। दोनों उपासनाओं के फल इस प्रकार हैं:—

निर्गुणोपासना का फल

ईश्वर की निर्गुणोपासना का यह प्रभाव उपासक पर पड़ता है, जिससे उसमें भी निर्गुणता आती है। यदि ईश्वर अमर है, तो वह भी अमर बनता है—इस प्रभाव से उपासक में कुछ आता नहीं, अपितु कुछ जाता है, परन्तु इस जाने ही से प्रसन्नता होती है, इसलिए इस प्रसन्नता को ऋणात्मक आनन्द (शान्ति) कहते हैं। एक जगह उपनिषद् में कहा भी गया है:—

अशब्द मस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसन्नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तम्महतः परं ध्रुवं निचाय्य तन्मृत्यु
मुखात् प्रमुच्यते ॥ कठ० १ । ३ । १५ ॥

अर्थात् ईश्वर अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अव्यय, अरस, अगन्ध, अनादि, अनन्त है, इस प्रकार उस महान् परम् ध्रुव का (उसकी निर्गुणता का) निश्चयात्मक ज्ञान प्राप्त करने से मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है। मृत्यु के मुख से छूटना ही ऋणात्मक आनन्द है।

सगुणोपासना का फल

परन्तु जब ईश्वर की सगुणोपासना की जाती है, तो ईश्वरीय गुणों के प्रभाव से उपासक को सगुणता की प्राप्ति से, आनन्द की प्राप्ति होती है। इसका भी प्रमाण है:—

एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा
यः करोति ।
तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्व-
तन्नेतरेषाम् ॥ कठ० ५ । १२ ॥

अर्थात् ईश्वर एक, सब को वश में रखनेवाला, सर्वव्यापक, एक रूपवाली प्रकृति को अनेक प्रकार का बना देनेवाला है, उसका जो धीर पुरुष आत्मस्थ होकर साक्षात्कार करते हैं, उन्हीं को चिरस्थायी सुख (आनन्द

प्राप्त होता है, अन्यों को नहीं। यही धनात्मक आनन्द है, जो सगुणोपासना से प्राप्त हुआ करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये॥ १५॥

भावार्थ—(सत्यस्य, मुखम्) सत्य का मुख (हिरण्मयेन, पात्रेण) सुवर्ण के पात्र से (अपिहितम्) ढका हुआ है। (पूषन्) हे पूषन् उस (सत्य धर्माय, दृष्टये) सत्य धर्म के दिखाई देने के लिए (त्वम) तू (तत्) उस आवरण को (अपावृणु) हटा दे।

व्याख्या

मनुष्य के कर्त्तव्य का विधान करते हुए उपनिषद् ने मनुष्यों को चेतावनी दी है कि इन कर्त्तव्यों के पालन करने में सच्चाई (वास्तविकता = Reality) होनी चाहिये, अन्यथा इनकी उपयोगिता न रहेगी। परन्तु संसार में सचाई के छिपा देने के भी साधन मौजूद हैं, जिन से वह दबा दी जाती है। उन्हीं साधनों की ओर मन्त्र में संकेत किया गया है।

सुवर्णमय पात्र (संसार की चमक-दमकवाली चीजें) ही वे पदार्थ हैं, जो मनुष्य को प्रलोभन में लाकर उसे सत्य-पथ से विमुख कर दिया करते हैं। मनुष्य क्यों चोरी करता

है ? धन के लालच से। मनुष्य क्यों किसी को धोका देता, क्यों किसी को ठगता है ? धन के लालच से। मनुष्य क्यों कचहरियों में झूँठी गवाही देता है ? धन के लालच से। अभी पश्चिमी युद्ध के समय पश्चिमी राज्य-कर्मचारियों ने क्यों झूँठ बोल-बोलकर अन्यों को धोखा देने का, अपना मन्तव्य और मुख्य कर्त्तव्य बना रखा था। इसका भी कारण वही धन का प्रलोभन था।

निदान सत्यता से विमुख होने के ये और इसी प्रकार के प्रलोभन ही हुआ करते हैं। इसीलिए मन्त्र में प्रार्थना की गयी है कि हे पूषन् (पालक ईश्वर) इन प्रलोभन का आवरण सत्यता के ऊपर से उठ जाय, जिससे सत्यता हम से और हम सत्यता से पृथक् न हों। सत्यता का इतना मान क्यों है, केवल इसीलिए कि सत्यता का ही दूसरा नाम धर्म है। बृहदारण्यकोपनिषद् में लिखा है— 'यो वै सधर्मः सत्यं वै तत् तस्मात् सत्यं वदन्तमाहुर्धर्म्मं वदतीति (देखो बृहद्० १।४। १४) अर्थात निश्चय जो धर्म है, वही सत्य है, इसीलिए सत्य कहने पर कहा जाता है कि धर्म कहता है, और धर्म को कहते हुए, कहा जाता है कि सत्य कहता है। परिणाम स्पष्ट है कि सत्य और धर्म दोनों वास्तव में एक ही वस्तु हैं। सत्य से धर्म और धर्म से सत्य भिन्न नहीं। एक दूसरी जगह ब्रह्म का नाम 'सत्यम्' कहा गया है। ब्रह्म को 'सत्यम' क्यों कहते हैं ?

इसलिए कि 'सत्यम्' शब्द ३ शब्दों से बनता है। 'स+ति+यम्' (देखो बृहद्० ५। ५। १) 'स' जीव का वाचक है, 'ति' नाशवान् ब्रह्माण्ड के लिए, 'यम्' जीव और ब्रह्माण्ड दोनों को नियम में रखनेवाला होने से ब्रह्म का नाम है। इस प्रकार 'सत्यम्' ब्रह्म का ही नाम है। सुतराम् अनेक रीति से सत्य की महिमा उपनिषद् में बखानी गयी है। वह 'सत्य' नामक ब्रह्म कहाँ है? उपनिषद् का उत्तर है, 'तत्सत्ये प्रतिष्ठितम्' (बृहद्० १। १४। ४) अर्थात् वह सत्य ही में प्रतिष्ठित हैं, इसलिये सत्य (ब्रह्म) को प्राप्त करने के लिए सत्य से पृथक् नहीं होना चाहिये, किन्तु उसे पूर्ण रीति से प्राप्त कर लेना चाहिये। इसीलिए उपनिषद् ने इस मन्त्र में चेतावनी दी है कि ऐसी महत्त्वपूर्ण वस्तु 'सत्य' आवरण रहित ही रहनी चाहिये। और मनुष्य का, इसीलिए, कर्तव्य है कि उस पर सुवर्णमय पात्रों का आवरण न पड़ने दे। तभी वह अपने कर्तव्यों के पालन करते और उद्देश्य को प्राप्त कर लेने में, सफल मनोरथ हो सकता है। कर्तव्य-विधान के बाद उसकी पूर्ति के लिए ईश्वर से प्रार्थना की गई है।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य प्राजा पत्याव्यूह रश्मीन् समूह। तेजोयन्ते रूपङ्कल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्व पोषक (एकर्षे) अद्वितीय (यम) न्यायकारी (सूर्य्य) प्रकाश-स्वरूप (प्राजापत्य) प्रजापति (रश्मीन्) ताप (दुःखप्रद किरणों को) (व्यूह) दूर कर (तेजः) और सुखप्रद तेज को (समूह) प्राप्त करा, (यत्) जो (ते) आपका (कल्याणतमम्) अत्यन्त मङ्गलमय (रूपम्) रूप है (तत्) आपके उस रूप को (पश्यामि) देखता हूँ, इसलिये (यः) जो (असौ पुरुषः) वह पुरुष (ईश्वर) है (सः) वह (अहम् अस्मि) मैं हूँ।

व्याख्या

मन्त्र में सच्चिदानन्द स्वरूप ईश्वर से, सच्चित् जीव को सच्चिदानन्द बना देने की याचना की गयी है और वे साधन भी, जिन से सच्चित जीव सच्चिदानन्द बन सकता है, बताये गये हैं और वे ये हैं:—

पहला साधन—ईश्वर के उन गुणों को, जिनका विवरण मन्त्र में है, जीव को अपने में धारण करना चाहिये। वे गुण ये हैं—

(१) पूषन्—मनुष्य को दीनों का पोषक होना चाहिये, उसका हृदय इतना लचकीला और प्रेममय होजाना चाहिये, कि किसी को भी दुखी न देख सके।

(२) एकर्षि-उसे उपासक श्रेणी में, अपने गुण और

कर्म की दृष्टि से, अद्वितीय होने के लिए यत्नवान् होना चाहिये।

(३) यम—उसे न्यायपथ का अचूक पथिक होना चाहिये। कभी अन्याय और अत्याचार का विचार भी उसके हृदय में नहीं आना चाहिये।

(४) सूर्य्य—उसे अपने अन्तःकरण को अज्ञान के अन्धकार से, जो तमस् और रजस् के रूप में होकर हृदय को अन्धकारमय गुफा बनाये रखते है, स्वच्छ रखना चाहिये और सत्व के प्रकाश से उत्तरोत्तर हृदय को प्रकाशमय बनाने का यत्न करते रहना चाहिये।

(५) प्रजापति—जिस प्रकार प्रजापति, अपनी प्रजा की रक्षा किया करता है, उसी प्रकार का रक्षक, बनने का उसे उद्योग करना चाहिये, जिससे उसको कभी भयभीत न होना पड़े।

दूसरा साधन—मनुष्य को दुःख से रहित और सुख से भरपूर हृदय वाला बनना चाहिये। यम और नियम के अभ्यासों से, उसे साधनसम्पन्नता प्राप्त होगी।

तीसरा साधन—जगदीश्वर के भक्त और प्रेमी का हृदय प्रेम से इतना भरपूर होना चाहिये कि प्रेम के आवेश में होते हुए उसे अपनी सुध-बुध न रहे। और केवल ध्येय ही उसके लक्ष्य में रह जावे। भक्ति और प्रेम की इस उच्चतम

अवस्था में वह अपने प्रेम-पात्र प्रभु का दर्शन कर सकता है।

जब उपासक इन तीनों साधनों से सम्पन्न हो जाता है, तभी उसे कह सकते है, कि वह मुक्त जीव या सच्चित् से सच्चिदानन्द हो गया। मन्त्र में यही शिक्षा दी गयी है। मनुष्य के कर्त्तव्य विधान और चितौनी देने के बाद, उपनिषद् ने एक बार फिर उसे याद दिला दिया कि उसका अन्तिम उद्देश्य यही (ईश्वर दर्शन) होना चाहिये जिससे उसके कर्त्तव्य का रुख दूसरी ओर न फिर सके।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म् क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

भावार्थः—(वायु) शरीरों में आने जाने वाला (अनिलम) जीव (अमृतम्) अमर है परन्तु (इदम्) यह (शरीरम) शरीर (भसमान्तम्) केवल भस्म पर्यन्त हैं; इसलिए अन्त समय में (क्रतः) हे जीव (ओ३म् स्मर) ओ३म् का स्मरण कर (क्लिवे, स्मर) बल प्राप्ति के लिए स्मरण कर और (कृतम्, स्मर) अपने किये हुए का स्मरण कर।

व्याख्या

यह उपनिषद् का चौथा और अन्तिम भाग है।

वेद की इस महत्वपूर्ण शिक्षा का भाव यह है कि मनुष्य को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिये

कि जब अमर आत्मा और विनश्वर शरीर के वियोग का समय आवे, तब वह 'ओ३म' का उच्चारण कर सके। छान्दोग्योपनिषद् में एक आख्यायिक आई है कि एक समय देवकी पुत्र कृष्ण के लिए उनके गुरु आंगिरस घोर ऋषि ने उपदेश दिया कि जब मनुष्य का अन्त समय हो, तब उसे इन तीन वाक्यों का उच्चारण करना चाहिये—

(१) त्वं अक्षितमसि। (हे ईश्वर आप अक्षित है)

(२) त्वं अच्युतमसि। (हे ईश्वर आप अविनश्वर है)

(३) त्व प्राणसंशितमसि। (हे ईश्वर आप सर्वजीवनप्रद सूक्ष्मतम हैं)

उपनिषत्कार का कथन है कि कृष्ण इस उद्देश्य को सुनकर अपिपास (अन्य किसी उपदेश के लिए तृष्णा रहित) हो गये। (छन्दोग्योपनिषद् ३। १७। ७) विचारणीय यह है कि जब घोर ऋषि ने कृष्ण महाराज को अन्त समय की एक शिक्षा दी थी, तो फिर कृष्ण ने क्यों यह समझ लिया कि अब उन्हें और किसी शिक्षा की जरूरत नहीं रही। इस प्रश्न को लक्ष्य में रखते हुए जब हम उपर्युक्त मन्त्र पर दृष्टि डालते हैं, तो प्रतीत होता है कि मन्त्र के दूसरे भाग में दो बातों के स्मरण करने का विधान है, एक ओ३म दूसरे अपने अपने किये हुए कर्मों का। वेद के समस्त मन्त्र और ऋचाएँ दो भागों में विभक्त हैं—एक भाग उपदेश रूप

में हैं, जिसमें मनुष्यों को उपदेश रूप में अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं, जिनके आचरण में लाने से वे अपने को उच्च कोटि का मनुष्य बना सकते हैं। परन्तु ईश्वर ने मनुष्य को कर्म करने में स्वतन्त्र भी बनाया है। इस लिए जो शिक्षाऐं उपदेश रूप में दी गयी हैं, मनुष्य का अधिकार है कि उन्हें ग्रहण करे या न करे, क्योंकि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है। मन्त्रों के दूसरे भाग में जो कुछ है, वह नियम रूप में वर्णित हुआ है। जो शिक्षा नियमरूप में हैं, उन्हें किसी की शक्ति नहीं कि उल्लंघन कर सके। ये ही नियम हैं, जिन्हें प्राकृतिक नियम (Laws of Nature) कहते हैं, और वे अटल हैं। मन्त्र में जो उपदेश हैं, उनमें से एक यह है कि "ओ३म् क्रतोस्मर" (हे जीव ओ३म का स्मरण कर) उपदेश रूप में है, परन्तु दूसरा उपदेश 'कृतं स्मर' (हे जीव अपने किये हुए का स्मरण कर) नियम रूप में है, और अटल है। इस शिक्षा को लक्ष्य में रखते हुए जब मनुष्य-जीवन पर दृष्टि डालते हैं, तब वह भी हमें दो भागों ही में, विभक्त दिखलाई देता है। मनुष्य-जीवन का पहला भाग उस समय तक रहता है, जब तक वह मृत्यु-शैय्या पर नहीं आता। दूसरा भाग वह है, जिसमें मनुष्य मृत्यु-शैया पर आकर अन्तिम श्वास लेने की तैयारी करता और लेता है। मनुष्य-जीवन का पहला भाग वह है, जिसमें मनुष्य को कर्म करने की स्वतन्त्रता होती है। उसमें मनुष्य उल्टा सीधा जिस

प्रकार का भी चाहे कर्म कर सकता है, परन्तु जीवन के दूसरे भाग में वह स्वतन्त्रता बाकी नहीं रहती। मनुष्य पहले भाग में जिस प्रकार की भी परिस्थिति और प्रभाव में रहता है, दूसरे भाग में जो चित्ररूप होता है, उन्हीं परि-स्थितियों और प्रभावों का चित्र खिचा हुआ दिखाई देता है। यदि एक व्यक्ति ने वित्तैषणा—धन के प्राप्त करने की इच्छा और उद्योग ही-में अपना जीवन व्यतीत किया है, तो जीवन के अन्तिम भाग में इसी का चित्र खिंचेगा; अर्थात् वह धन ही का स्मरण करता हुआ इस दुनिया से कूच करेगा। ग़ज़नी के प्रसिद्ध लुटेरे राजा महमूद का जीवन, इस विषय में, उदाहरण रूप है। यदि उसने अपना सारा जीवन धन के लिए लूट मार करने में लगाया था तो अन्त में उसी धन के लिए रोता हुआ वह संसार से गया। यही अवस्था उनकी होती है, जिन्होंने पुत्रैषणा अथवा लोकैषणा में अपना जीवन व्यतीत किया है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य, जीवन के पहले भाग को, जिस प्रकार के भी कार्य में लगाता है, अन्त में जीवन के दूसरे भाग में, उसे उसी का स्मरण करते हुए ही, इस दुनिया से जाना पड़ता है।

इतनी व्याख्या के बाद अब उस प्रश्न का सुगमता से समाधान हो जाता है कि क्यों कृष्ण, आचार्य्य घोर के उपदेश को सुनकर अपिपास हुए। कृष्ण ने समझ लिया कि अन्त में "त्वंअक्षितमसि" इत्यादि वाक्य कब मुँह से

निकल सकते हैं, जब जीवन के पहले भाग में इनका स्मरण और जप किया हो। इस प्रकार घोर ऋषि का उपदेश केवल अन्त समय का ही एक कर्त्तव्य नहीं था, किन्तु सारे जीवन का वह कार्य-क्रम था। जब सारे जीवन का कार्यक्रम आचार्य ने बतला दिया, तब फिर कृष्ण को क्या ज़रूरत बाक़ी रही थी कि वे और भी किसी शिक्षा की आकांक्षा करते। उपनिषद् ने जो शिक्षा मनुष्य के कर्त्तव्य के सम्बन्ध में ऊपर दी है, यदि मनुष्य उसका ठीक रीति से पालन करे, तो अवश्य उसकी यही अवस्था होगी कि अन्त में वह ओ३म का स्मरण करते हुए संसार से रुख़सत होगा। यह मंत्र एक प्रकार की परीक्षा का विधान करता है। उपनिषद् की शिक्षा जिस कार्य-क्रम से जीवन व्यतीत करने का विधान करती है, यदि मनुष्य उसी के अनुसार चलेगा तो अवश्य इस परीक्षा में उत्तीर्ण होगा, अर्थात जीवन के दूसरे भाग में, ओम् का स्मरण करते हुए, अंतिम श्वास खींचेगा। यदि उस शिक्षा पर न चलेगा, तो कदापि ओ३म् का स्मरण न कर सकेगा। यही परीक्षा की अनुत्तीर्णता होगी। इसीलिए प्रत्येक नर-नारी का कर्त्तव्य है कि इस प्रकार से यत्नवान् हो कि जब परीक्षा का समय आये तो उत्तीर्णता प्राप्त करे।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि

विद्वान्। युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप (देव) तेजस्वी ईश्वर (राये) ऐश्वर्य्य प्राप्ति के लिए (सुपथा) अच्छे मार्ग से (हमको) (नय) चलाइये। आप (अस्मान) हमारे (विश्वानि) सम्पूर्ण (वयुनानि) कर्मों को (विद्वान्) जाननेवाले हैं। (अस्मत्) हमको (जुहुराणम्) उलटे मार्ग पर चलने रूप (एनः) पाप से (युयोधि) बचाइये इसलिये (ते) आप को हम (भूयिष्ठाम्) बार बार (नम,उक्तिम्) नमस्कार (विधेम) करते हैं।

व्याख्या

यह मन्त्र उपनिषद् का अन्तिम मन्त्र है। आर्यशैली के अनुसार सारा यत्न करने के बाद अन्त में मनुष्य को ईश्वर की दया ही का आश्रय लेना चाहिये। उसी के अनुसार इस प्रार्थना विधायक मन्त्रों के साथ उपनिषद् समाप्त होता है। मन्त्र में पाप का कैसा सुन्दर लक्षण कर दिया है। पाप क्या है? उलटे मार्ग पर चलना, इस उलटे पाप के मार्ग पर न चल कर सीधे और पुण्य पथ का पथिक बनने के लिए, ईश्वर की ही पथ-प्रदर्शकता की आवश्यकता है। वही आदि गुरु है। वही महान् शिक्षक है। उसी का आश्रय लेने से बेड़ा पार हो सकता है। इस-लिए सब कुछ यत्न करके भी अन्त में उसी का आश्रय लेना चाहिये।

वैदिक साहित्य प्रचारिणी सभा

पुस्तकालय

इस पुस्तकालय की स्थापना इसलिये की गई है कि वैदिक साहित्य की उत्तरोत्तर अभिवृद्धि हो और वह सुगम से सुगम रीति से सर्वसाधारण के हाथों में पहुँच सके। इसी उद्देश्य को सम्मुख रखकर कुछ पुस्तकों को लागत-मात्र पर और कुछ को लागत मात्र से कम दामों पर केवल प्रचारार्थ देने का प्रबन्ध किया गया है। चन्द चुनी-हुई उत्तमोत्तम पुस्तकों की संक्षिप्त सूची दी जाती है। जो लोग अपनी ज्ञान-वृद्धि के उत्सुक हैं या जो उत्तम साहित्य-द्वारा प्रचार के अभिलाषी हैं, उन्हें तुरन्त आर्डर भेज कर पुस्तक मँगाना चाहिये।

आर्यसमाज और दयानन्द	)॥	वैदिक सिद्धान्त सजिल्द	१)
साधु और कुम्भ	)।	विरजानन्द विजय	=)
आर्यावर्त की वाणी	=)	दयानन्द लहरी	-)
वायस आफ़ आर्यावर्त	।)	प्राणायाम विधि	)॥
सत्यार्थप्रकाश संस्कृत	।)	दयानन्द ग्रन्थमाला	२॥)
हिन्दी सत्यार्थ-प्रकाश	।)॥	कथामाला	।=)
(व २५) सैकड़ा)		[illegible]-जीवन व गृहस्थ-धर्म	।=)
पच पद्धति	[illegible])	केनोपनिषद्	=)॥
आर्यसमाज	।॥)	कठोपनिषद्	=)॥
भजन भास्कर	[illegible]	प्रश्नोपनिषद्	=)॥
विदेशों में [illegible]	[illegible]	[illegible]एडकोपनिषद्	=)॥
ओ३म् प्र[illegible]	[illegible]	[illegible]ण्ड्य कोपनिषद्	-)।
दश नियम [illegible]	[illegible]	[illegible]ठ्य दर्पण	=)॥
वैदिक सिद्ध[illegible]	।॥)	विद्यार्थी जीवन रहस्य	≡)

वैदिक-साहित्य-प्रचारिणी सभा

के

उद्देश्य—

[१] ऋषि दयानन्दजी द्वारा लिखी हुई पुस्तकों का सस्ते से सस्ते मूल्य पर प्रचार करना।

[२] सत्यार्थ-प्रकाश तथा श्री स्वामी जी द्वारा लिखी हुई पुस्तकों को अन्य देशों में तथा भारतवर्ष के ग्राम-ग्राम में पहुँचाने का प्रयत्न करना।

[३] समय-समय पर वैदिक धर्म की रक्षा के लिए साहित्य-सम्बन्धी ट्रेक्ट लिखवाना और उनका प्रचार करना।

[४] वैदिक सिद्धान्तों के प्रचार करने के लिए प्रति मास नये-नये ट्रेक्ट प्रकाशित करना।

उपनियम

[१] यह सभा उपरि लिखित नियमों की पूर्ति के लिए प्रति मास नये-नये ट्रेक्ट प्रकाशित करेगी।

[२] ट्रेक्टों को लिखने का प्रबन्ध आर्य-विद्वानों द्वारा किया जायगा।

[३] ट्रेक्टों के प्रकाशित करने से पूर्व सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, देहली से स्वीकृति ली जाया करेगी।

[४] जो विद्वान् लेखक अपने बनाये हुए ट्रेक्ट इस सभा को प्रचार की इच्छा से प्रदान करेंगे, वे धन्यवाद पूर्वक

दिनांक	सदस्य संख्या	दिनांक	सदस्य संख्या

स्वीकृत होंगे । उनपर लेखक का नाम भी रहेगा और जो लेखक उनके बदले में पुरस्कार चाहेंगे उनको सभा पुरस्कार भी देगी।

[५] ट्रैक्टों को घटाने-बढ़ाने तथा छापने का अधिकार सभा के अतिरिक्त और किसी को न होगा।

[६] जो सज्जन या समाज कम से कम १) रुपये के ट्रैक्टों का वी० पी० प्रतिमास लेंगे, वे इसके स्थायी ग्राहक समझे जायेंगे।

[७] एक रुपए के ट्रैक्टों की बिक्री पर भी कोई फ़ायदा नहीं लिया जायगा। यदि कोई सज्जन किसी कारण वश इसका ग्राहक रहना न चाहें तो उनको एक मास पूर्व सूचना देनी चाहिये नहीं तो वी० पी० लेनी होगी।

[८] एक साथ ५) रुपए या इससे अधिक की पुस्तक लेने वालों को १५) फीसदी कमीशन दिया जायगा, और स्थायी ग्राहकों को २०) फी सदी कमीशन दिया जायगा।

[९] इस सभा को इससे जो फ़ायदा होगा वह ट्रैक्ट के प्रचार में ही लगाया जायगा।

[१०] इस सभा के कार्य-कर्त्ताओं तथा इसके सभासदों को मासिक निकलने वाले ट्रैक्टों की एक कापी बिना मूल्य दी जायेगी।

इन उप-नियमों में परिवर्तन करने का अधिकार इस सभा को होगा।